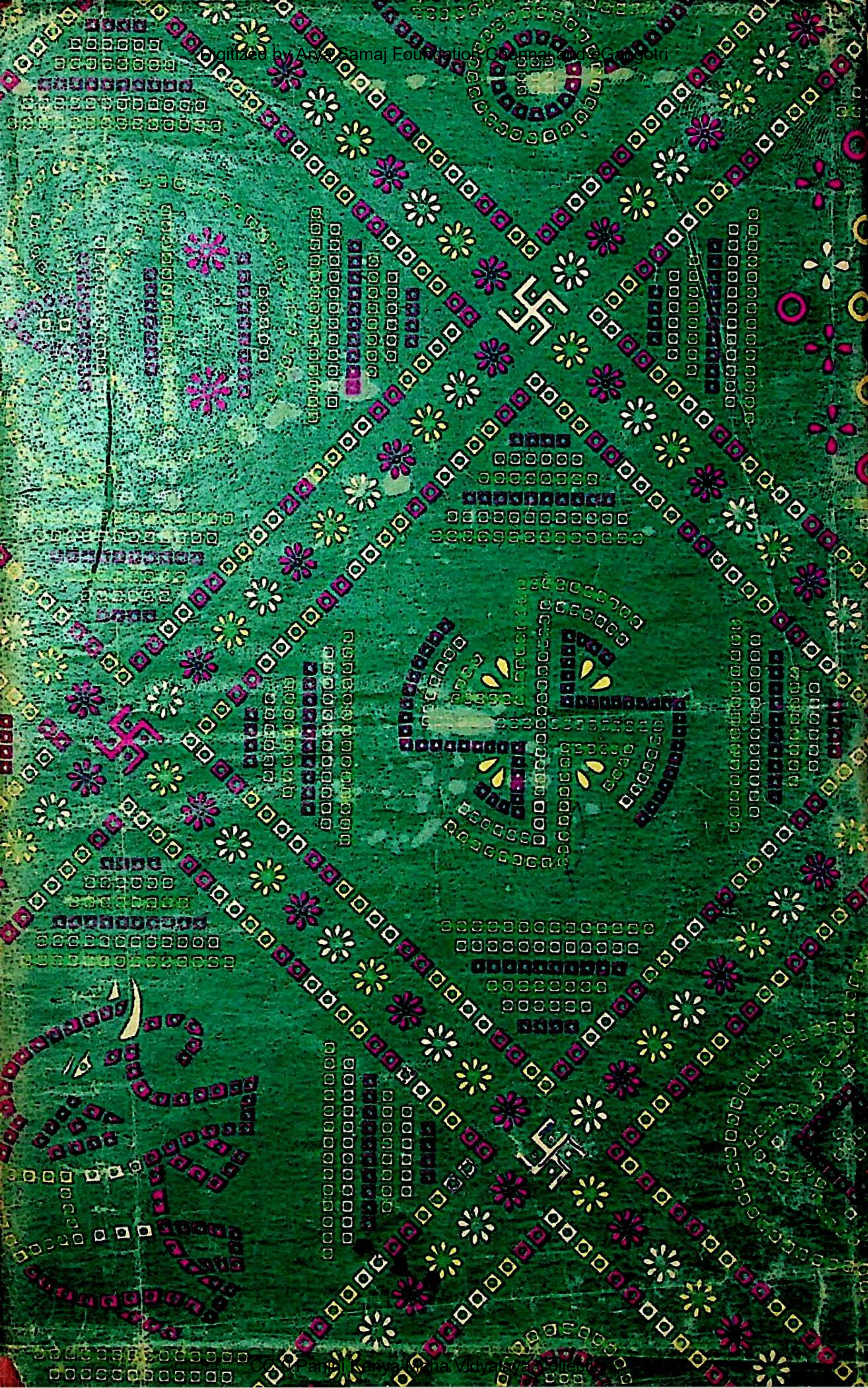
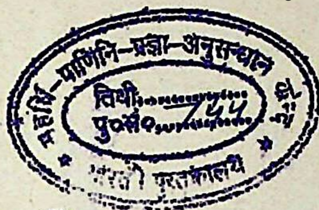










प्राचीन भारतीय प्रशासनिक एवं वैधानिक संस्थाएँ

लेखक :

डा० ओम प्रकाश सिंह

एम० ए०, पी० एच० डी०

प्रवक्ता- प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग

टी० डी० पोस्ट ग्रेजुएट कालेज, जौनपुर

एवं

डा० श्याम नारायण

प्रवक्ता- प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं

गुरुकुल कांगड़ी, विश्ववि॰

प्रकाशक :

भारत भारती प्रकाशन

हुसेनाबाद, जौनपुर

प्रकाशक:-
भारत भारती प्रकाशन
हुसेनाबाद, जौनपुर

सीताराम प्रेस
वाराणसी



डा० काशी प्रसाद जायसवाल

की

स्मृति में







भूमिका

'प्राचीन भारतीय प्रशासनिक एवं वैधानिक संस्थाएं' पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने का हम प्रयास किया है। अनेक विद्वानों ने अब तक प्राचीन भारतीय शासन पद्धति पर ग्रंथ प्रस्तुत किए हैं, परन्तु अधिकतर अच्छी सामग्री आंग्ल भाषा में ही बिखरी पड़ी है जो सम्भवतः आज के हिन्दी भाषा विद्यार्थियों के लिए अधिक ग्राह्य नहीं हो पायी है। अतः प्रस्तुत पुस्तक में यह ध्यान रखा गया है कि यह विद्यार्थियों की आवश्यकता को पूरा कर सके। यदि इस पुस्तक से विद्यार्थियों को विषय को समझने में सहायता मिल सकी तो हमें अपार हर्ष और उत्साह मिलेगा। विभिन्न विद्वानों के मतों की समीक्षा करते हुए विषय को सरल और सुबोध बनाने का प्रयास किया गया है।

हम उन सभी विद्वानों के प्रति आभार प्रकट करते हैं जिनकी अमूल्य लेखनी से इस ग्रंथ को लिखने में सहायता मिली है। साथ ही हमें इस ग्रन्थ के प्रणयन में प्रोफेसर डॉ० उपेन्द्र ठाकुर, मगध विश्वविद्यालय, डॉ० बीरेन्द्र बहादुर सिंह, रीडर एवं अध्यक्ष प्राचीन इतिहास, टी. डी. कालेज जौनपुर तथा श्री आर. पी. सिंह, प्राचीन इतिहास, टी. डी. कालेज का अपार स्नेह और आशीर्वाद प्राप्त हुआ है। अतः इन लोगों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूं। हम अपने विभाग के अन्य सहयोगियों के प्रति भी आभार प्रकट करते हैं जिन्होंने हमें समय-समय पर इस पुस्तक को लिखने में उत्साहित किया है।

भारत-भारती, जौनपुर के श्री वीरेन्द्रकुमार सिंह धन्यवाद के पात्र हैं जिनकी लगन एवं तत्परता से इस पुस्तक का प्रकाशन संभव हो सका है।

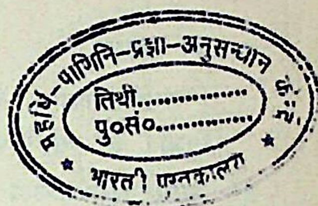
पुस्तक में जो त्रुटियां रह गई हों उनके लिए हम क्षमा प्रार्थी हैं। इस सम्बन्ध में जो भी सुझाव मिलेंगे उन्हें सधन्यवाद स्वीकार करेंगे तथा अगले संस्करण में उन सुझावों का समावेश करेंगे।

डॉ० ओम प्रकाश सिंह
टी. डी. पोस्ट ग्रेजुएट
कालेज, जौनपुर

तथा

डॉ० श्यामनारायण सिंह
गुरुकुल कांगड़ी,
विश्वविद्यालय, हरिद्वार





विषय-सूची

प्रथम खण्ड

प्राचीन भरतीय प्रशासनिक संस्थाएं

अध्याय	विषय	पृष्ठ
१.	राजनीति शास्त्र : महत्व, नामकरण तथा स्रोत [राज्यशास्त्र की महत्ता, नामकरण, राज्यशास्त्र का स्वरूप, हिन्दू राज्यशास्त्र के स्रोत]	१-१६
२.	(अ) राज्य की उत्पत्ति एवं प्रकार (ब) प्राचीन भारत में राज्य के प्रकार	१७-२८
३.	राज्य का स्वरूप, उद्देश्य एवं कार्य [स्वरूप : सप्तांग सिद्धांत, सप्तांगों का सापेक्षिक महत्व, राज्य के उद्देश्य, राज्य के कार्य	२६-४३
४.	राजतंत्र [राज्याभिषेक; उत्तराधिकार के नियम, राजा के कर्त्तव्य, राजा की स्थिति हिन्दू राजतंत्र का आदर्श, राजा का निर्वाचन, प्राचीन भारत में राजा का देवत्व, क्या राजतंत्र निरंकुश था।]	४४-७२
५.	प्रतिनिधि संस्थाएं [(अ) सभा और समिति, (ब) पौर जानपद]	७३-८८
६.	मन्त्रि-परिषद् [संगठन, मंत्रि-परिषद् के कर्त्तव्य तथा कार्य]	८६-१०७
७.	गणराज्य [उत्पत्ति एवं विकास, गण और संघ शब्द में अन्तर, पाणिनि की अष्टाध्यायी में वर्णित गणराज्य, बुद्ध कालीन प्रजातंत्र और उनकी संवैधानिक विशेषताएं, यूनानी लेखकों द्वारा उल्लिखित गणराज्य, प्राचीन भारतीय गणराज्यों की कार्यवाही का ब्योरा, प्राचीन भारतीय गणराज्यों का ह्रास]	१०८-१२६

८. कर व्यवस्था

[राजकर सिद्धांत, आयात पर कर लगाने के सिद्धांत, कर मुक्ति सिद्धांत, कर वसूलने का औचित्य, आय के साधन] १२७-१४०

९. अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्ध

[कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वर्णित अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्ध : मण्डल सिद्धांत] १४१-१४७

१०. ग्राम तथा नगर शासन पद्धति

[(अ) ग्राम शासन पद्धति, मौर्य युगीन ग्राम शासन पद्धति, गुप्त युगीन ग्राम शासन पद्धति, पंचायत अथवा पंचमण्डली, (ब) नगर शासन पद्धति] १४८-१५४

११. शासन व्यवस्था का सर्वेक्षण

[ऋग्वैदिक कालीन शासन व्यवस्था, उत्तर वैदिक शासन व्यवस्था, मौर्य शासन व्यवस्था, गुप्त शासन व्यवस्था, चोल शासन] १५५-१६४

द्वितीय खण्ड

प्राचीन भारतीय वैधानिक संस्थाऐं

१२. हिन्दू विधि के स्रोत १६७-१७६
१३. उत्तराधिकार के नियम १७७-१८२
१४. स्त्री धन १८३-१८५
१५. न्यायिक प्रक्रिया या व्यवहार १८६-१९३
१६. साक्ष्य १९४-१९६
१७. पुत्रों के प्रकार १९७-२०३
१८. पाप अपराध एवं दुष्कृति २०४-२०५
१९. न्यायालयों का संगठन २०६-२१०



प्रथम खण्ड

प्राचीन भारतीय प्रशासनिक संस्थाएँ



अध्यायः १

राजनीति शास्त्रः महत्व, नामकरण तथा स्रोत

प्राचीन भारत में राज्यशास्त्र की महत्ता :—कुछ पाश्चात्य विचारकों के अनुसार प्राचीन भारतीय चिंतनधारा मात्र धर्म एवं दर्शन-प्रधान थी। उसमें अन्य लौकिक विषयों के अनुशीलन को कोई स्थान प्राप्त न था। प्रो० मैक्समूलर के अनुसार भारत एक दार्शनिक राष्ट्र था तथा उसके आन्तरिक आत्मिक जीवन ने उसके वाह्य क्रियात्मक पक्ष को इतना अभिभूत कर लिया था कि राष्ट्र-निर्माण के उसके समस्त गुण समाप्त हो गये थे।

> "The Hindus were a nation of philosophers......Taken as a whole, history supplies no second instance where the inward life of the soul has so completely absorbed all the practical faculties of a whole people, and, in fact, almost destroyed those qualities; by which a nation gains its place in history."

प्रो० ब्लूमफील्ड के विचार भी उक्त मत के अनुरूप थे। उनके अनुसार भी धार्मिकता ने भारतीय चरित्र एवं जीवनधारा को इतना प्रभावित कर रखा था कि उसमें राज्य की हितरक्षा एवं जाति के विकास को कोई स्थान ही प्राप्त नहीं था।[२] इन विचारकों के अनुसार भारत के चिन्तकों ने अपनी समस्त विचार-शक्ति का क्षय-मात्र-दार्शनिक एवं धार्मिक चिंतन में किया तथा राजशास्त्र की उपेक्षा की। परन्तु यथार्थ स्थिति इससे भिन्न है। वस्तुतः भारत के प्राचीन निवासियों ने जहाँ धर्म, दार्शनिक चिन्तन एवं अध्यात्मवाद के विकास पर शेष बल दिया था, वहाँ उन्होंने संसार की इहलौकिक उन्नति की भी उपेक्षा नहीं की। उन्होंने धर्म को केवल मोक्ष (निःश्रेयस) की प्राप्ति का साधन ही न मान कर उसे सांसारिक अभ्युदय का भी सिद्धिमार्ग माना था।[३]

"यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः"

---

१. History of Ancient Sanskrit Literature, pp. 30.31.

२. The Religion of the Veda, pp. 4.5

३. योगशास्त्र।

२ : राजनीति शास्त्र : महत्व, नामकरण तथा स्रोत

मनुष्य की सामाजिक उन्नति के लिये भारतीय चिन्तकों ने अनेकों विद्याओ का प्रणयन किया था। शुक्राचार्य ने ३२ विद्याओं की गणना की है जिनमें अर्थशास्त्र कामशास्त्र, शिल्पशास्त्र तथा यवन दर्शन भी सम्मिलित हैं। छान्दोग्योपनिषद् में वेद, इतिहास, पुराण; पित्र्यविद्या, राशिविद्या, दैवविद्या, भूतविद्या, युद्धनीति, नक्षत्र-विद्या, सर्पविद्या, एवं खनिविद्या आदि का उल्लेख है।[1] जातक ग्रंथों में भी अष्टादश विद्याओं का उल्लेख है। वायुपुराण (३, ६, २२) में भी अठारह विद्याओं का उल्लेख है। अतः स्पष्ट है कि भारतीय चिन्तनधारा एकांगी न होकर बहुमुखी थी और उसका लक्ष्य था मानव का सर्वतोमुखी विकास। राज्यशास्त्र अथवा दण्डनीति उनके अध्ययन का एक प्रधान विषय था।

कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' के प्रथम अध्याय में ही विद्या के चार रूप वर्णित हैं—आन्वीक्षकी, त्रयी; वार्ता एवं दण्डनीति।[2]

'आन्वीः कत्रयी वार्ता दन्ड नीतिश्लेति विद्याः'

'आन्वीक्षकी' से तात्पर्य था सांख्य, योग एवं लोकायत (चार्वाक) दर्शनों से, ऋग्, यजु और सामवेदों को 'त्रयी' कहते थे, कृषि, वाणिज्य तथा पशुपालन को 'वार्ता' कहते थे, इन तीनों का समुचित सम्पादन एवं विकास 'दण्डनीति' पर निर्भर था। वही इनके योग क्षेत्र का साधन थी। दण्डनीति की व्याख्या करते हुये कौटिल्य ने सम्पूर्ण लोकयात्रा को इसी पर निर्भर माना है—

"जो प्राप्त न हो उसे प्राप्त करना, प्राप्त की रक्षा करना, रक्षित की वृद्धि करना तथा बढ़ी हुई सुख समृद्धि को यथायोग्य स्थानों व पात्रों में प्रयुक्त करना दण्ड-नीति का ही कार्य है।"[3]

"अलब्ध लाभार्था, लब्ध परिरक्षिणी रक्षितविवर्धिनी, वृद्धस्य,
तीर्थेषु प्रतिपादिनी च।"

स्पष्ट है कि भारत के प्राचीन विचारकों की दृष्टि में 'दण्डनीति' का बहुत अधिक महत्व था। विचारकों का एक ऐसा भी वर्ग था जो विद्या के दो ही रूप मानता था। उदाहरणार्थ बार्हस्पत्य सम्प्रदाय के अनुसार विद्यायें दो ही हैं—वार्ता एवं दण्डनीति। औशनस सम्प्रदाय इससे भी आगे बढ़कर 'दन्डनीति' को ही एकमात्र विद्या मानता है।[4] यद्यपि कौटिल्य ने विद्या के चारों प्रकारों को स्वीकार किया है तथापि उन्होंने दण्डनीति को अधिक महत्व देते हुये अन्य तीनों विद्याओं का मूल 'दन्डनीति' में ही स्वीकार किया है।[5]

'दण्डमूलास्तिस्रो विद्या"

---

१. छान्दोग्योपनिषद् सप्तम पाठ।
२. अर्थशास्त्र, १.१
३. अर्थशास्त्र—१.३
४. कौटिल्य द्वारा उद्धृत—अर्थशास्त्र, १.१
५. अर्थशास्त्र, १.४

ऐसी स्थिति में पाश्चात्य विचारकों का यह दृष्टिकोण कि धर्म एवं दर्शन के अत्यधिक प्रभाव में प्राचीन भारत में लौकिक विद्याओं विशेषतः राजशास्त्र की उपेक्षा की गई थी सत्य से बहुत दूर दिखाई देता है। राजशास्त्र ज्ञान की एक स्वतन्त्र शाखा के रूप में प्राचीन भारत में मर्यादित था।

> "......it would now be absurd to affirm that the Indians had for ever subordinated the study of the Science of politics to that of Theology and Philosophy and had never developed it as an independent branch of knowledge."[1]

'दन्डनीति' की महत्ता का विवेचन कतिपय अन्य प्राचीन ग्रन्थकारों ने भी किया है। शुक्रनीतिसार में मर्यादा का नाम दन्ड तथा उसकी नीति को दन्डनीति कह कर सम्वोधित किया गया है।[२] इसके अनुसार "नीतिशास्त्र सबको जीवन प्रदान करने वाला, लोक की स्थिति को सम्पादित करने वाला, धर्म, अर्थ और काम का मूल तथा मोक्ष प्रदान करने वाला है।"[३] दन्डनीति के महत्व को प्रकट करने वाली अनेकों उक्तियाँ महाभारत में उपलब्ध हैं, यथा :—

(१) सर्वे त्यागाः राजधर्मेषु दृष्टाः सर्वाः दीक्षाः राजधर्मेषु चोक्ताः।
सर्वा विद्याः राजधर्मेषु मुक्ताः सर्वे लोकाः राजधर्मे प्रविष्टाः॥"

अर्थात् सम्पूर्ण त्याग, दीक्षा, विद्या तथा लोक राजधर्म पर ही आधारित हैं।[४]

(२) "त्रिवर्गो हि स मासक्तो राजधर्मेषु कौरव।"

अर्थात् त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ एवं काम) राजधर्म पर ही आश्रित हैं।[५]

(३) "सर्वस्य जीवलोकस्य राजधर्मः परायणम्।"

'समस्त जीव लोक का अंतिम आश्रम राजधर्म ही है।'[६]

नामकरण :—प्राचीन भारतीय साहित्य में इस शास्त्र को कई नामों से अभिहित किया गया है उदाहरणार्थ राजधर्म, राज्यशास्त्र, दन्डनीति, नीतिशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र इत्यादि। ये नामकरण साधार एवं सोद्देश्य थे।

(१) राजधर्म एवं राज्यशास्त्र :—प्राचीन भारत में सामान्यतः नृपतंत्र अथवा राजतंत्र के प्रचलन के कारण शासनतन्त्र के विश्लेषण करने वाले शास्त्र को राजधर्म या

१. D. R. Bhanderkar, "Some Aspects of Ancient Hindu Polity" pp. 4
२. शुक्रनीतिसार १.१५२—१५४
३. उपर्युक्त १.५
४. शान्ति पर्व, ६२.२९
५. उपर्युक्त ५५.४
६. उपर्युक्त ५५.३

राज्यशास्त्र कहना स्वाभाविक था। इन नामों का उल्लेख क्रमशः मनुस्मृति[१] एवं महाभारत[२] में है।

(२) दन्डनीति—राजसत्ता का अंतिम लक्ष्य दन्ड के समुचित सम्पादन के माध्यम से समाज में शांति एवं सुव्यवस्था की स्थापना करना था। दन्ड के भय से ही लोग न्याय-पथ से विरत नहीं होते। मनु ने दन्ड की महत्ता का विश्लेषण करते हुये उसे ही सम्पूर्ण प्रजा का रक्षक कहा है। जब सब लोग सोते हैं तो दन्ड ही जागृत रहता है और वही सबकी रक्षा करता है। दन्ड ही धर्म है।[3]

'दन्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दन्ड एवाभिरक्षति।
दन्डः सुप्तेषु जागर्ति दन्ड धर्मं विदुर्बुधाः॥"

इस दृष्टि से राज्यशास्त्र को 'दन्डनीति' कह कर सम्बोधित किया गया। उशनस तथा प्रजापति के ग्रंथ 'दन्डनीति' नाम से ही प्रसिद्ध थे। 'अर्थशास्त्र' भी इसी नाम से ज्ञात था।

(३) नीतिशास्त्र :—'नीति' शब्द का सम्बन्ध संस्कृत की 'नी' धातु से है जिसका तात्पर्य ले जाना, पथ-प्रदर्शन आदि से है। "उचित अनुचित कार्यों को बताने वाला शास्त्र नीतिशास्त्र के नाम से विदित होने लगा व उसमें मानव-समाज के विभिन्न वर्गों के कर्तव्यों की चर्चा होने लगी।"[४]

डॉ० अल्तकरः प्राचीन भारतीय शासन पद्धति,

उचित पथ-प्रदर्शन व्यक्तिगत जीवन से कहीं अधिक महत्वपूर्ण सामाजिक एवं राजकीय क्षेत्र में था। फलतः कालान्तर में 'नीतिशास्त्र' शब्द का प्रयोग संकुचित रूप से राज्यशास्त्र के लिए होने लगा। कामन्दक एवं शुक्र के राजनीतिशास्त्र सम्बन्धी ग्रंथ नीतिशास्त्र नाम से ही प्रसिद्ध हुये। १२ वीं शदी से १७वीं शदी के मध्य के विभिन्न ग्रंथकारों के शासन-पद्धति सम्बन्धी ग्रंथ इसी नाम से अभिहित हुये। उदाहरणार्थ लक्ष्मीधर—'नीति-कल्पतरु', अन्नभट—'नीति-चन्द्रिका'; चन्डेश्वर—'नीति रत्नाकर' नीलकन्ठ—'नीति मयूख', एवं मित्रमिश्र—'नीति प्रकाश' आदि।

'नीतिशास्त्र' का ध्येय समाज का सर्वाङ्गीण उन्नति करना था, वैसा ही ध्येय शासनशास्त्र का था। इसलिये इसे भी नीतिशास्त्र कहने लगे।[५]

(४) अर्थशास्त्र :—कौटिल्य का राजनीतिशास्त्र विषयक प्रसिद्ध ग्रंथ 'अर्थ शास्त्र' के नाम से ज्ञात है। इस नामकरण का आधार भी कौटिल्य ने अपने इस ग्रंथ में दिया है—"मनुष्यों द्वारा बसी हुई भूमि को अर्थ कहते हैं। उसके लाभ एवं पालन

१. मनुस्मृति—अध्याय ७
२. महाभारत, शान्ति पर्व, १.५८.६३
३. मनु, ८.१४
४. पृष्ट २
५. उपर्युक्त

की जो शास्त्र व्यवस्था करे, उसे अर्थशास्त्र कहा जाता है।"[1]

"मनुष्यवती भूमिः इत्यर्थः। तस्याः पृथिव्याः लाभपालनोपायः शास्त्रमर्थशास्त्रम्।"

अमरकोश में अर्थशास्त्रदन्डनीति का पर्यायवाची शब्द दिया गया है तथा मिताक्षरा ने भी यह मत स्वीकृत किया है।[2] डॉ० अलतेकर ने इस कारण परम्परा को विवादग्रस्त बताते हुये लिखा है कि "चूँकि नीतिशास्त्र विषयक सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ अर्थशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध था इसलिये अर्थशास्त्र शब्द भी राजनीतिशास्त्र के अर्थ में रूढ़ हो गया।"[3]

राज्यशास्त्र का स्वरूप :—आधुनिक युग में राज्यशास्त्र को धर्म से नितांत पृथक् रखा गया है। धर्म-कार्यों के प्रभाव से राज्यशास्त्र में दोष उत्पन्न हो जाते हैं तथा उसका लोक-कल्याणकारी स्वरूप अवरुद्ध हो जाता है। परन्तु प्राचीन भारत में इस शास्त्र का स्वरूप इससे भिन्न था। वह धर्मानुप्राणित था। उसे धर्मशास्त्र के अन्तर्गत स्थान प्राप्त है। उसे धर्म, अर्थ एवं काम का मूल तथा मोक्ष का प्रदाता कहा गया है।[4]

धर्मार्थं काम मूलं हि स्मृतं मोक्षप्रदं यथा

परन्तु धर्म के इस प्राचीन रूप तथा आधुनिकयुग के धर्माचार्यों द्वारा प्रतिपादित धर्म के मूल तत्वों में बहुत अन्तर था। प्राचीन भारत का यह धर्म किसी एक देश, जाति अथवा समुदाय की सीमा में आवद्ध नहीं था। इसका क्षेत्र एवं इसकी धारणा अत्यधिक व्यापक थी। इसे विश्वधर्म या मानवधर्म कहा जा सकता है। 'धर्म' शब्द 'धृ' धातु से बना है जिसका तात्पर्य है 'धारण करना'। अतः हमारी प्राचीन अवधारणा में धर्म वह तत्व था जिसे ग्रहण कर हम अपने यथार्थ स्वरूप को धारण करने में समर्थ हो सकते थे तथा अपने पूर्ण विकास की प्राप्ति करते थे।

इसी विश्वधर्म अथवा मानवधर्म की व्याख्या हेतु धर्मशास्त्र का निर्माण हुआ जिससे प्राणिमात्र को उनके विविध कर्मों का बोध कराया जा सके। इस धर्मशास्त्र द्वारा वर्णित विविध धर्मों के पालन हेतु नियमों का सम्यक ज्ञान देना राज्यशास्त्र का कार्य था। प्राचीन भारतीय राज्यशास्त्र में प्राणिमात्र के विविध धर्मों को क्रियात्मक रूप देने के उद्देश्य से नियमों, साधनों एवं उपायों का वर्णन है। इस दृष्टि से वह धर्मशास्त्र के अन्तर्गत होते हुए भी अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखता है।

---

१. अर्थशास्त्र; १५.१
२. याज्ञ वल्क्य १.३११.३१२
३. प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० ३
४. शुक्र, १.५

छठवीं शताब्दी ई० पू० या इससे कुछ पहले ही राज्यशास्त्र कई विचार धाराओं में विभक्त हो गया। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में राज्यशास्त्र की तीन प्रमुख विचारधाराओं की ओर संकेत किया है। इनके पारस्परिक भेद का भी संकेत कौटिल्य ने किया है।

(१) धर्म-प्रधान विचारधारा :—धर्मशास्त्र के आदि प्रणेता मनु हैं। इनके द्वारा राजशास्त्र सम्बन्धी जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ, उनका सम्बन्ध एक विशेष विचारधारा से है जो सर्वप्रधान स्थान प्रदान करती है। इसके अनुसार राज्यशास्त्र इसी धर्म का एक अंग मात्र है।

(२) अर्थ-प्रधान विचारधारा :—इसके जनक बृहस्पति हैं। वार्हस्पत्य नाम से ज्ञात राज्यशास्त्र का ग्रंथ इन्हीं की कृति है जो अनुपलब्ध है। इस विचारधारा के अनुसार इस संसार में अर्थ ही प्रधान है। उसकी उपलब्धि पर ही अन्य पदार्थों की उपलब्धि सम्भव है। राज्यशास्त्र भी अर्थ के अधीन है। कौटिल्य भी इसी विचारधारा के समर्थक कहे जा सकते हैं यद्यपि उन्होंने आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्त्ता एवं दन्डनीति चारों विद्याओं को मान्यता दी है। बृहस्पति एवं कौटिल्य दोनों ने ही धर्म एवं काम की उपलब्धि अर्थ पर ही आश्रित माना है।

(३) दण्ड-प्रधान विचारधारा :—इसके प्रवर्तक उशना हैं जो एक वैदिक ऋषि हैं। शुक्रनीति जो वहुत वाद की रचना है, इन्हीं के नाम शुक्र से सम्वन्धित है। यह विचारधारा दन्डनीति को ही मात्र विद्या मानती है। उसी के सम्यक् प्रयोग से अन्य विद्याओं की प्राप्ति सम्भव है। दन्डनीति ही धर्म, अर्थ एवं काम के समुचित पालन की व्यवस्था करके अंतिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करता है।

सम्भव है कि उनके अतिरिक्त अन्य विचारधाराओं का भी अस्तित्व रहा हो परन्तु उनका स्वरूप अज्ञात है। पाराशरा:[१] एवं आम्भीया:[२] का उल्लेख भी कौटिलीय अर्थशास्त्र में है। निःसन्देह प्राचीन भारत में बहुत से ऐसे विचार सम्प्रदाय विद्यमान थे जो विभिन्न प्रकार के मतों का प्रतिपादन किया करते थे।

हिन्दू राज्यशास्त्र के स्रोत

प्राचीन भारतीय राज्यशास्त्र के मूल स्रोत यद्यपि साहित्यिक हैं तथापि पुरातात्विक साधनों जैसे शिलालेखों एवं मुद्राओं से भी इस दिशा में हमें यथेष्ट सहायता प्राप्त होती है।

१. अर्थशास्त्र, १.१६
२. अर्थशास्त्र, १.१७
३. प्राचीन भारतीय शासत पद्धति, पृष्ठ ४, ५

राज्यशास्त्र के मूल-ग्रन्थः—राजशास्त्र सम्बन्धी मूल ग्रन्थ ई० पू० ५०० के पहले के उपलब्ध नहीं हैं। एक शास्त्र के रूप में इस विषय का विकास ई० पू० सातवीं सदी में हुआ। डा० काशी प्रसाद जायसवाल ने हिन्दू राजनीति शास्त्र सम्बन्धी साहित्यिक रचनाओं का आरम्भ ६५० ई०पू० के लगभग स्वीकार किया है। दुर्भाग्यवश राज्य-शास्त्र सम्बन्धी जो ग्रन्थ उस समय लिखे गये थे वे आज उपलब्ध नहीं है परन्तु महा-भारत एवं कौटिल्य के अर्थशास्त्र में आये हुए उद्धरणों से हमें इन ग्रंथकारों के नाम एवं उनके सिद्धान्तों का परिचय अवश्य प्राप्त होता है।

(१) प्रारम्भिक ग्रन्थकार:—महाभारत में कहा गया है कि प्रारम्भ में ब्रह्मा ने समाज व्यवस्था स्थापित की तथा एक लाख श्लोकों वाले एक विशाल राज्यशास्त्र की रचना की। इसकी सम्पूर्ण विषय सूची भी वहाँ उपलब्ध है। इसे क्रमशः शिव, विशा-लाक्ष, इन्द्र वृहस्पति तथा शुक्र ने संक्षिप्त किया। 'राज्यशास्त्र' के अन्य प्रणेताओं में मनु, गौरशिरस, भारद्वाज, मातरिश्वा, कश्यप, वैश्रवण, उतथ्य, वामदेव, शम्वर, कालकवृक्षीय वसुहोम तथा कामन्दक के नाम भी महाभारत के शान्तिपर्व में उल्लिखित हैं। इनमें से कुछ ग्रन्थों के परिमाण का उल्लेख भी महाभारत में है। विशालाक्ष के नीतिशास्त्र में दस हजार तथा वृहस्पति के अर्थशास्त्र में तीन हजार अध्याय थे।

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र का प्रारम्भ ही इस वाक्य से किया है—"पृथ्वी के लाभ और पालन के उद्देश्य से आचार्यों ने जो अर्थशास्त्र लिखे थे प्रायः उन सब का संग्रह करके इस अर्थशास्त्र की रचना की गई है"।

"पृथिव्या लाभे पालने च यावन्त्यर्थशास्त्राणि
पूर्वाचार्यैः संस्थापितानि प्रायश-स्त्रानि सह्वत्य
एकामिदमर्थं शास्त्रम् कृतम्।"

—अर्थशास्त्र

स्पष्ट है कि—कौटिल्य के पूर्व भी बहुत से आचार्यों ने राज्यशास्त्र की रचना की थी। कौटिल्य ने विशालाक्ष, पराशर, पिशुन, कौणपदन्त, वातव्यधि बाहुदन्तीपुत्र, कात्यायन, घोटकमुख, दीर्घचारायण, काणिक भारद्वाज, पिशुनपुत्र एवं किञ्जल्क आदि आचार्यों का उल्लेख किया है। डा० अलतेकर के अनुसार ये ग्रन्थ लिखे तो गये मनुष्यों द्वारा परन्तु नाम इन पर देवताओं या ऋषियों के दिये गये। इसके अतिरिक्त कौटिल्य ने निम्नलिखित सम्प्रदायों का भी उल्लेख किया है— मानवः, बार्हस्पत्याः, औशानसाः, पराशरणः आम्भीयाः।
और इसके साथ उन्होंने और भी कई पूर्वाचार्यों के मतों का संग्रह किया है।

उपरोक्त ग्रन्थकारों ने राजतंत्र का विस्तृत विवेचन किया है। इनमें मंत्रिमंडल का सविस्तार वर्णन है। कोष, बल एवं दुर्ग से सम्बन्धित समस्याओं का प्रतिपादन है। राजनैतिक सिद्धान्तों, यथा षाड्गुण्य मंत्र एवं द्वैगुण्य मंत्र आदि का भी इनमें विवेचन किया है। इनमें दण्ड एवं व्यवहार से सम्बन्धित मान्यताएँ भी आयी हैं, परन्तु कर-प्रणाली तथा स्थानीय शासन को इन ग्रन्थकारों ने स्पर्श नहीं किया है क्योंकि इन विधियों पर अर्थशास्त्र में उनके उद्धरण नहीं दिये गये हैं।

वी० ए० सालेटोर ने इन ग्रन्थकरों का सम्भावित तिथिक्रम निम्न प्रकार से दिया है—

(अ) मनु—लगभग १९००—१८०० ई० पू०

(ब) बृहस्पति उशनस—१७००—१५०० ई०पू०

(स) भारद्वाज, विशालाक्ष, पराशर, कात्यायन, भारद्वाज, दीर्घचारायण घोटकमुख, किंजल्क, पिशुन, कौणपदन्त, वातव्याधि आदि—१२००—४०० ई० पू०

(द) कौटिल्य द्वारा वर्णित एक अनाम ग्रन्थकार तथा स्वयं कौटिल्य—
४००—३२० ई०पू०

इस प्रकार सालेटोर महोदय ने राज्यशास्त्र की प्रारब्धि ईसा से पूर्व लगभग १९०० वर्ष से स्वीकार किया है परन्तु उनका यह मत आपत्तियों से मुक्त नहीं है।

(२) महाभारत—राज्यशास्त्र के ज्ञान की दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यधिक महत्त्व का है। इसे प्राचीन भारतीय ज्ञान व इतिवृत्ति का विश्वकोष कहा जा सकता है। शान्ति पर्व के 'राजधर्म, एवं 'आपद्धर्म अध्यायों में राज्यशास्त्र सम्बन्धी विवेचन है। इनमें प्राचीन राजनीतिक चिन्तन का सर्वाधिक विस्तृत क्रमवद्ध एवं गहन विवेचन है।

इसमें राजशास्त्र की महत्ता, राज्य एवं राजा की उत्पत्ति के सिद्धान्त, राजा एवं मन्त्रियों के कर्त्तव्य एवं उत्तरदायित्व, कर-व्यवस्था, परराष्ट्र नीति तथा सन्धि विग्रह आदि का विशद वर्णन है। शान्तिपर्व के अतिरिक्त सभापर्व के पाँचवे अध्याय में राजव्यवस्था का वर्णन तथा बत्तीसवें अध्याय में 'आपदधर्म' का उल्लेख है। आदि पर्व के १४२वें तथा वनपर्व के २५वें अध्याय में भी राजशास्त्र सम्बन्धी उल्लेख है।

शांतिपर्व या महाभारत की रचना पर विवाद है। कुछ इतिहासकार उसे कौटिलीय अर्थशास्त्र के बाद का मानते हैं। यदि यह मान भी लिया जाय कि महाभारत की रचना तृतीय सदी ई० पू० में हुई तो भी इतना निश्चित है कि इसमें

वर्णित विचार उससे पुराने हैं। इसमें भारत के प्राचीन विचारकों के विचारों को संकलित किया गया है।

(३) अर्थशास्त्र

(अ) लेखक एवं रचना-काल—अत्यधिक विवादग्रस्त प्रश्न है। इस सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण हैं :

(१) अर्थशास्त्र चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधान मंत्री चाणक्य की रचना है, कौटिल्य उन्हीं का दूसरा नाम था। हेमचन्द्र के "अभिदान चिन्तामणि" में उनके अन्य नाम वात्स्यायन, मल्लनाग, कुतल, द्रायित्व, पक्षिकस्वामी, विष्णुगुप्त एवं अंगुल आदि भी वर्णित है। इस दृष्टिकोण के पक्षपाती कुछ महत्वपूर्ण इतिहासकार सर्वश्री शामशास्त्री—"अर्थशास्त्र की भूमिका"—डा० काशी प्रसाद जायसवाल, हिन्दू-पालिटी, गणपत शास्त्री, न० ना० ला०, वी० ए० स्मिथ, फ्लीट्, अलतेकर, काणे, विलियम टामस आदि हैं। इनके तर्क निम्न हैं—

(क) अर्थशास्त्र के अन्तः साक्षी द्वारा सूचित होता है कि इसकी रचना उस चाणक्य ने की जिसने नवनन्दों का विनाश कर चन्द्रगुप्त को मगध के सिंहासन पर आसीन किया था। लिखा गया है—"जिसने बड़े अनर्थ के साथ और नन्दराज के हाथ में गई पृथ्वी का उद्धार किया, उसने ही इस शास्त्र की रचना की है।"

(ख) प्राचीन साहित्य में इस काल के प्रचुर प्रमाण हैं कि अर्थशास्त्र की रचना चाणक्य ने ही की। कामन्दक ने अपने नीतिसार में चाणक्य द्वारा रचित अर्थशास्त्र का उल्लेख किया है। दंडी ने "दशकुमार चरितम्" में विष्णुगुप्त द्वारा मौर्यों के लिए बनाये गये ग्रन्थ का उल्लेख किया है। पंचतंत्र, नीतिवाक्यामृत आदि ग्रन्थों में भी इसके उल्लेख हैं।

(ग) डॉ० अलतेकर के अनुसार कौटिल्य ने जिस समाज का चित्रण किया है उसमें विधवाओं के नियोग तथा पुनर्विवाह रूढ़ थे, लड़कियों का विवाह ऋतु प्राप्ति के पश्चात प्रौढ़ावस्था में होता था। यह स्थिति मौर्य युग में थी।

(घ) बौद्धों के प्रति अवज्ञा तथा परिवार का प्रबन्ध किये बिना भिक्षु होने की मनाही भी यही संकेत करती है कि ग्रन्थ की रचना उस समय हुई जब बौद्ध धर्म राजधर्म नहीं बना था लेकिन समाज में उसका प्रचार जोरों पर था। यह स्थिति अशोक के पूर्व थी।

(ङ) ग्रन्थ में कर्मचारियों के लिए अनेक बार युक्त, शब्द आया है। अशोक के शिलालेखों में भी यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त है।

(ञ) अर्थशास्त्र के अध्याय ११ में मद्र, कंबोज, लिच्छवि व मल्ल गणराज्यों का उल्लेख है। इन सबों का अस्तित्व मौर्य काल के आरम्भ में था न कि चतुर्थ सदी ईसवी में, अतः अर्थशास्त्र मौर्य युग की कृति है।

(छ) कौटिल्य ने यास्क की भाँति नाम, आख्यान, उपसर्ग तथा निपात इन चार पदों का उल्लेख किया है, पाणिनि की भाँति आठ पदों का नहीं। अतः अर्थशास्त्र का काल पाणिनि के लोकप्रिय होने के पहले अर्थात ई० पू० ३०० ही है।

(ज) मेगास्थनीज के 'इन्डिका' नामक ग्रन्थ एवं अर्थशास्त्र में आये हुए विवरणों का साम्य भी उन्हें समकालीन सिद्ध करता है। दोनों के वृतान्तों में कुछ भेद भी है लेकिन वे मेगस्थनीज के काल्पनिक विवरण के कारण हैं।

इस प्रकार डॉ० अ० स० अलतेकर ने निष्कर्ष निकाला है कि "कुछ वाक्यों या अध्यायों को छोड़कर ग्रन्थ का शेष भाग अवश्य ही मौर्य कालीन एवं कौटिल्य कृत है।" डा० डी० आर० भन्डारकर ने भी अर्थशास्त्र एवं धर्मसूत्रों की शैली के साम्य के आधार पर इसका समय ७००–२०० ई० पू० के मध्य मानते हुए इसे चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधान मंत्री कौटिल्य की रचना स्वीकार किया है।

(२) इस समस्या पर द्वितीय दृष्टिकोण सर्वश्री विंटर नित्ज, जाली, कीथ तथा देवदत्त भन्डारकर आदि का है जो इसे बहुत बाद की रचना मानते हैं। इनके तर्क निम्न हैं—

(क) इसमें यूनानी इतिहास कारों द्वारा वर्णित मौर्य साम्राज्य एवं व्यवस्था का वर्णन नहीं है—विंटरनित्ज के अनुसार नगर की प्रवन्ध समितियों एवं विदेशियों की देख-रेख का कोई वर्णन नहीं है।

(ख) जाली के अनुसार अर्थशास्त्र में स्थान-स्थान पर 'इति कौटिल्यः' लिख कर कौटिल्य का मत उद्धरित किया गया है। यदि यह कौटिल्य की ही रचना है तो उनके मत को उल्लिखित करने की क्या आवश्यकता है।

(ग) कौटिल्य का नाम अन्य पुरुषों में प्रयुक्त है अतः इसके लिखने वाला कोई और ही था।

(घ) कौटिल्य एक निन्दा व्यंजक नाम है, सम्भवतः यह एक काल्पनिक संज्ञा है।

(ङ) 'नवं शरावं' आदि श्लोक कौटिल्य के अर्थशास्त्र के भाग १ व अध्याय २ में आये हैं तथा भास के 'प्रतिज्ञायोगंधरायण' नाटक में भी उनका वर्णन है। अतः कौटिल्य भास के बाद आये हैं और उन्होंने उक्त श्लोक भारत से ग्रहण किया है।

इन विद्वानों के अनुसार अर्थशास्त्र तीसरी या चौथी ईसवी की रचना है। इसकी रचना किसी एक व्यक्ति द्वारा नहीं वरन एक सम्प्रदाय द्वारा हुई। परन्तु डा० काशी प्रसाद जायसवाल, डा० अ० स० अलतेकर जैसे प्रभूत विद्वानों ने उक्त लोगों का खंडन किया है तथा उनकी निस्सारता प्रमाणित कर दी है। फलतः वी० ए० सालेटोर जैसे आधुनिक विद्वानों ने इस बात को निर्विवाद स्वीकार कर लिया है कि, "अर्थशास्त्र के 'कौटिल्येन नरेन्द्रार्थे शासनस्य विधिः कृतः" में उल्लिखित 'नरेन्द्र कोई अन्य शासक नहीं वरन चन्द्रगुप्त मौर्य ही है।"

"The Narendra referred to here could have been no other than Chandragupta Maurya himself."

आर० पी० काँगले ने अर्थशास्त्र की रचना काल को ई० पू० ३२४ के पहिले माना जब चन्द्रगुप्त मौर्य ने मौर्य वंश की स्थापना की।[1]

(ब) वर्ण्य-विषय—अर्थशास्त्र धर्मशास्त्र की विचारधारा से अप्रभावित मूलतः राजशास्त्र का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। धर्मशास्त्रों में प्रायः एक खंड राजधर्म पर होता है परन्तु इस ग्रन्थ का विषय पूर्णतया राज्यशास्त्र है। इसके प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ विभागों में क्रमशः नृपतंत्र, राजकर्मचारियों के अधिकार एवं कर्त्तव्य तथा दीवानी और फौजदारी, कानून, दाय-विभाग, रस्मरिवाज आदि का वर्णन है। पाँचवें एवं छठवें विभागों में क्रमशः राजा के अनुचरों के कर्तव्य तथा राज्य की सप्त-प्रकृतियों का वर्णन है। शेष ९ विभागों में परराष्ट्र नीति, शत्रु-राज्य को पराभूत करने के उपाय, संधि-विग्रह, युद्ध-संचालन तथा शत्रुओं में विभेद करने के साधनों आदि के वर्णन है। शासनकार्य के संचालन की दृष्टि से यह एक व्यवहारिक ग्रन्थ है। इसमें सिद्धान्तों का केवल दार्शनिक विवेचन नहीं वरन राज-कार्य संचालन की पद्धति वर्णित है। समस्याओं का निराकरण भी किया गया है। इस ग्रन्थ की महत्ता का प्रमाण इस बात में निहित है कि इसने तत्कालीन भारतवर्ष को चन्द्रगुप्त मौर्य के नेतृत्व में एक दृढ़ एवं सुसंगठित शासन तन्त्र प्रदान किया। राजनीति के साहित्य में अर्थशास्त्र का वही स्थान है जो व्याकरण-शास्त्र में पाणिनि की अष्टाध्यायी का। जिस प्रकार पाणिनि ने अपने से पूर्व के वैयाकरणों को परास्त कर दिया था। बाद में आने वालों के लिए कुछ शेष नहीं छोड़ा था उसी प्रकार कौटिल्य ने भी राज्यशास्त्र में अपने से पूर्व के लेखकों को पीछे छोड़ दिया तथा उनके बाद भी इस विषय का कोई मौलिक ग्रन्थ बहुत दिन बाद नहीं लिखा जा सका।

1. The Kautilya Arthasastra (Bombay, 1965), III, pp. 107 ff.

शुद्ध राजनीति के दृष्टिकोण से कौटिल्य का अर्थशास्त्र अपना अलग महत्व रखता है। परन्तु उसकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में अभी तक विवाद चल ही रहा है। कौटिल्य ही पहले व्यक्ति थे जिन्होंने राजनीति को धर्म के चंगुल से मुक्त करने का प्रयास किया और अपना राजनीतिक लक्ष्य प्राप्त करने में उन्होंने नैतिकता को स्थान नहीं दिया। कौटिल्य राजनीति के संख्यापक कहे जा सकते हैं और अर्थशास्त्र राजशास्त्र के जानने के साधनों में सबसे बड़ी उपलब्धि है।

(४) कामन्दकीय नीतिसार :—कामन्दक के समय के बारे में भी विद्वान एकमत नहीं है। डा० काशी प्रसाद जायसवाल के अनुसार इसका रचयिता चन्द्रगुप्त द्वितीय का मन्त्री 'शिखर-स्वामिन' था। जाली, विन्टरनित्ज आदि विद्वानों ने इसका समय आठवीं सदी ईसवी माना है। डा० अलतेकर के अनुसार विशाखदत्त (५वीं सदी) तथा दण्डी (६वीं सदी) ने इस ग्रन्थ का उल्लेख नहीं किया है। किन्तु वामन (८वीं सदी) को यह ग्रन्थ ज्ञात था अतः उनके अनुसार यह ग्रन्थ ६०० से ७०० ई० के मध्य लिख गया।

यह ग्रन्थ एक प्रकार से कौटिल्य के अर्थशास्त्र का ही संक्षिप्त रूप है। इसमें अर्थशास्त्र के विचारों को ही नहीं वरन् उसकी शब्दावली भी ज्यों की त्यों उठाकर रख दी गई है। अतः कुछ विद्वान इसे राज्यशास्त्र का मौलिक ग्रन्थ स्वीकार नहीं करते। परन्तु विविध राज मंडलों का वर्णन, संधि-भेद का वर्णन, राजा की सफलता के लिए चार के स्थान पर सात उपायों का वर्णन आदि ऐसे विषय हैं जहाँ कामन्दक का मौलिक बुद्धि-वैभव दिखाई देता है। ग्रन्थ में केवल राजतन्त्र का वर्णन है—गणतन्त्र का नहीं।

(५) शुक्रनीति :—इस ग्रन्थ का भी कृतत्व एवं रचनाकाल विवादग्रस्त है। इसके प्रणेता के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण हैं। प्रथम दृष्टिकोण के अनुसार शुक्र या उशना प्राचीन भारत के एक अत्यन्त प्रसिद्ध आचार्य थे। उनके द्वारा स्थापित विचार सम्प्रदाय ही 'औशनस' कहा जाता था। उनके शिष्यों ने उनके विचारों को चिरस्थायी रखा। प्रारम्भ में ये विचार मौलिक थे, बाद में किसी शिष्य ने उनको ग्रन्थवद्ध किया तथा उन विचारों के प्रणेता के नाम पर ही उसका नामकरण किया। दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार किसी अन्य व्यक्ति ने परवर्ती-युग में यह ग्रन्थ लिख कर उसे शुक्राचार्य को समर्पित करने के लिए अथवा ग्रन्थ की ख्याति के लिए इसका नाम शुक्रनीति रखा। इसी प्रकार इसके रचना काल पर भी भिन्न-भिन्न मत हैं। ओपर्ट इसे ईसा से पूर्व की रचना मानते हैं। राजेन्द्र लाल मित्र तथा डी० घोषाल इसे १२०० से १६०० ई० के मध्य रखते हैं। डा० अलतेकर ने इसे ८०० से १२०० के मध्य रखा है तथा

कहा है कि वे खण्ड जिनमें बारुद व बन्दूक के उल्लेख हैं, चौदहवीं सदी में जोड़े गये होंगे। डा० श्यामलाल पाण्डेय ने इसे शुक्र-काल में रखा है। डॉ० लल्लन जी गोपाल ने इस ग्रन्थ को १९वीं शताब्दी का बताया है।

यह ग्रन्थ भी मूलतः नृपतन्त्र का वर्णन करता है। राजा, मंत्री, राज-कर्मचारी, परराष्ट्रीय नीति तथा चार प्रकार के न्यायालयों का उसमें विशद वर्णन है। ग्रन्थ में कुछ नवीन तथ्यों का विस्तृत वर्णन है जैसे राज दरबार में विभिन्न वर्ग के दरबारियों के बैठने के स्थान, सामन्तों की विभिन्न श्रेणियाँ, उनकी आय, मंत्रिमण्डल के सदस्यों के कार्य-क्षेत्र, उनके पद का नाम आदि।

(६) राज्यशास्त्र की मध्यकालीन रचनायें :—ग्यारहवीं सदी के बाद यद्यपि राजशास्त्र की मौलिकता समाप्त हो गई परन्तु ई० १७०० तक ऐसे ग्रन्थों की रचना होती रही जिसमें प्राचीन ग्रन्थों की सामग्रियों का संकलन कर राजनीति विषयक तथ्यों का सविस्तार वर्णन किया गया। इसमें कोई नवीनता नहीं थी। ये निम्न हैं :—

रचनायें — रचयिता

१. अभिलषितार्थ चिन्तामणि……सोमेश्वर (११२५ ई०)
२. युक्ति-कल्पतरु……भोज (१०२५ ई०)
३. राजनीति-कल्पतरु……लक्ष्मीधर (११२५ ई०)
४. राजनीति काण्ड……देवण भट्ट (१३०० ई०)
५. राजनीति रत्नाकर……चण्डेश्वर (१३२५ ई०)
६. आयुक्त माल्मद……कृष्णदेव राय (१५२५ ई०)
७. नीति-मयूख……नीलकण्ठ (१६२५ ई० (
८. राजनीति-प्रकाश……मित्रमिश्र (१६५० ई०)
९. राजधर्म कौस्तुभ……अनन्तदेव
१०. मानसोल्लास……सोमेश्वर (११२५–११३८ ई०)

अन्य साहित्यिक स्रोत :— विशुद्ध नीति विषयक ग्रन्थों के अतिरिक्त ऐसे भी बहुत से ग्रन्थ हैं जिनमें राजनीति का स्फुट विवेचन देखने को मिलता है। इनका क्रमबद्ध विवरण निम्न है :—

(१) वैदिक साहित्य :—वैदिक संहिताओं में राज्यशास्त्र सम्बन्धी स्फुट वर्णन प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद में तो इस प्रकार विवरण कम हैं परन्तु अथर्व वेद में उनकी संख्या पर्याप्त है। इस दृष्टि से यजुर्वेद अधिक महत्त्व का है। उसकी संहिताओं तथा ब्राह्मणों के राज्याभिषेक तथा उनके बाद किये गये जाने वाले यज्ञों का विस्तृत विवेचन है। इससे राजपद की मर्यादा राज कर्मचारियों तथा करों आदि की स्थिति

ज्ञात होती है डॉ० अलतेकर ने उन वैदिक संहिताओं के उन स्थलों की सूची प्रदान की है जो राज्यशास्त्र से सम्बन्धित है।

(२) सूत्र ग्रन्थ :—ये ग्रन्थ उत्तर वैदिक काल के उपरान्त के हैं। सूत्र ग्रन्थों में धर्मसूत्रों का सम्बन्ध राज्यशास्त्र से है। इसमें गौतम-धर्मसूत्र प्राचीनतम है। मानव-धर्मसूत्र अप्राप्त है। अन्य में आपस्तम्ब-धर्मसूत्र, बौधायन-धर्मसूत्र तथा गोमिल-धर्मसूत्र प्रधान हैं। परन्तु इनमें राजशास्त्र विषयक सामग्री अत्यधिक अल्प एवं अस्पष्ट है।

(३) स्मृति ग्रन्थ :—स्मृतिमारों में मनु, विष्णु एवं याज्ञवल्क्य आदि प्रमुख हैं। डा० अलतेकर ने इनका समय २०० ई० पू० से २०० ई० तक निर्धारित किया है। इनमें वर्ण, आश्रम। प्रायश्चित्त आदि विषयों के साथ-साथ राजा के कर्त्तव्यों, राज-कर्मचारियों के कार्य, परराष्ट्र-सम्बन्ध आदि पर प्रकाश डाला गया है।

(४) पुराण एवं रामायण :—पुराणों की संख्या अठारह हैं। इनमें प्राचीन इति वृत्त संग्रहीत है। यत्र-तत्र राज्यशास्त्र सम्बन्धी सामग्रियाँ भी प्राप्त हो जाती हैं। बाल्मीकिय रामायण से भी हमें उत्तराधिकार के नियम, राज्य के आदर्श एवं उसकी स्थिति मंत्रियों एवं अमात्यों के अधिकार तथा कर्त्तव्यों आदि का ज्ञान होता है।

(५) काव्य-नाटक व इतिहास ग्रन्थ :—प्रतिज्ञायोगंधारायण, रघुवंश, माल-विकाग्निमित्र, पंचतंत्र, हितोपदेश, कादम्वरी, हर्षचरित, दशकुमार चरित, राजतरङ्गिणी आदि ऐसी पुस्तकें हैं—जो स्फुट रूप से हमें राज्यशास्त्र पर प्रकाश प्रदान करती हैं।

(६) बौद्ध एवं जैन साहित्य :—बौद्ध साहित्य में दीघ निकाय, चुल्लवग्ग, जातक तथा दिव्यवदान आदि ग्रन्थ हमें प्राचीन भारतीय गणतांत्रिक पद्धति पर प्रकाश देते हैं।[1] जैन आचारङ्ग सूत्र भी इस दृष्टि से महत्त्व का है।

पुरातात्त्विक स्रोत

(१) अभिलेख व ताम्र-पत्र—प्राचीन भारत की ऐसी अनेक प्रशस्ति व ताम्रपत्र है जिनमें राजा के व्यक्तिगत गुण, उसके आदर्श, उसकी नीति तथा उसके प्रशासन सम्बन्धी तथ्य विद्यमान हैं। यद्यपि इनमें राजा के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में अतिशयोक्तियाँ अवश्य हैं उनका बहुत बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन किया गया है परन्तु इन लेखों से हमें अधिकारियों एवं शासन विभागों का यथार्थ विवरण प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ—मौर्य शासन प्रणाली का यथार्थ चित्र हमें अशोक के शिलालेखों से गुप्त

---

१. १९७१ के जरनल ऑव इण्यिन हिस्ट्री में बी० जी० गोखले ने बौद्ध स्रोतों के आधार पर बड़ा ही वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

शासन प्रणाली का वर्णन- समुद्रगुप्त चन्द्रगुप्त, द्वितीय स्कन्दगुप्त आदि के समय लेखों से तथा हर्ष-प्रशासन का उल्लेख मधुवन, बाँसखेरा आदि ताम्रपत्रों से प्राप्त है। शिलालेखों से ही में प्राचीन कर-व्यवस्था, मंत्रि-मण्डल, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों आदि का भी ज्ञान होता है। चोल अभिलेखों से चोलों के स्वात्य प्रशासन पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।

मुद्रायें:—प्राचीन सिक्क भी इस दिशा में कमके महत्वपूर्ण नहीं हैं। मुद्राओं पर अंकित लेखों से अनेक नगर राज्यों के अस्तित्व का ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

डा० अलतेकर ने मौद्रिक-साक्ष्यों के आधार पर तक्षशिला, विदिशा; माहिष्मती, एरण, कौशाम्बी, आदि नगर राज्यों के अस्तित्व को स्वीकार किया। डॉ० बेला लहिरी ने नगर राज्यों के सिक्कों की विवेचनात्मक व्याख्या की है।

इसके अतिरिक्त शिवि, मालव, आर्जुनायन, कुणिन्द, यौधय, आदि गणों के अस्तित्व का ज्ञान मुद्राओं से ही प्रामाणिक रुप से होता है। मुद्रायें सम्वन्धित राजसत्ता के स्वरूप उनकी समृद्धि आदि की भी द्योतक होती हैं।

इस प्रकार पुरातत्व भी प्राचीन भारतीय राज्यशास्त्र को जानने में सहायक है।

इन साधनों के अतिरिक्त और भी एक महत्वपूर्ण साधन है जिसे हम नजरअन्दाज नहीं कर सकते हैं और वह साधन है विदेशी यात्रियों का विवरण। मूल रूप से यूनानी और चीनी यात्रियों के विवरण काफी महत्वपूर्ण हैं और इनके विवरण के विना हमारा ज्ञान इस सम्बन्ध में अधूरा ही रह जाता। सिकन्दर के आक्रमण के समय पंजाब में बहुत सारे गणराज्य थे जिनका विवरण हमें ग्रीक इतिहासकारों (स्ट्रैबो, डायोरस कर्टियस आदि) से मिलता है। चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में मेगास्थानीज नामक एक यूनानी राजदूत था और उसने उस समय के भारत के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है वह हमारे लिए बड़ा ही महत्वपूर्ण है। इसी प्रकार चीनी यात्री फाहियान और ह्वेनसाँग के यात्रा-विवरणों से भी गुप्त और हर्ष के काल की शासन-व्यवस्था पर प्रकाश पड़ता है। वैशाली और दामोदर पुर से प्राप्त पुरातात्विक सामग्रियों की पुष्टि फाहियान के यात्रा विवरण से हो जाती है। ये लोग बाहर से आये थे और अपने अध्ययन भ्रमण के सिलसिले में इन लोगों ने जो कुछ देखा उसी पर अपना विचार प्रकट किया।

राजनीति विषयक बहुत कुछ बातों को समझने के लिए हमें कतिपय ऐसे ग्रन्थों का भी अध्ययन करना चाहिये जिनसे प्राचीन भारतीय व्यवस्था को समझने में आसानी होती है। कीथ और मैक्डोनल द्वारा सम्पादित "वैदिक इंडेक्स" इस दृष्टिकोण से काफी महत्वपूर्ण है। दीक्षितार द्वारा सम्पादित 'पुराणिक इंडेक्स' भी विशेष महत्व रखता है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक महत्वपूर्ण विद्वानों द्वारा लिखित

पुस्तकें राज्यशास्त्र सम्बन्धी प्राचीन विचारों को प्रकाशित करने में हमारी सहायता करती हैं।

प्राचीन भारतीय राज्यशास्त्र और शासन पद्धति के अध्ययन के लिए साधनों का अभाव नहीं है। सबसे बड़ी दिक्कत यह है कि उन साधनों का उपयोग किस क्रम से हो क्योंकि जितने भी प्राचीन साधन उपलब्ध हैं उनका सही ढंग से न तो वर्गीकरण हो सका है, और न मूल्यांकन ही। जहाँ तक तिथि निर्णय और पाठ्य-सुधार का सम्बन्ध है, वे तो अभी तक उलझे हुए ही हैं। यही कारण है कि जब हम प्राचीन भारत पर लिखने बैठते हैं, हमें उन दिक्कतों का सामना करना पड़ता है। जब तक प्रत्येक साधन का तिथिक्रम निश्चित नहीं हो जाता है तब तक यह कठिनाई बनी रहेगी और हमें सतर्कता से उनका उपयोग करना होगा। इसलिए हमें प्रत्येक काल के अध्ययन के लिए उस काल के साधनों का वर्गीकरण करना चाहिए क्योंकि तभी हम उनका वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत कर सकते हैं।

●

अध्याय : २

[अ] राज्य की उत्पत्ति एवं प्रकार

प्राचीन भारतीय विचारकों ने राज्य-संस्था की उत्पत्ति से सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है यह अवश्य है कि राज्य की उत्पत्ति पर विचार करते समय वस्तुतः राजा या राजतन्त्र की उत्पत्ति ही वर्णित हुई है क्योंकि राजतन्त्र ही प्राचीन भारत की सर्व-प्रचलित एवं सर्वप्रधान शासन-प्रणाली थी। कौटिल्य ने तो राजा को ही राज्य मान लिया है। राजा राज्यनीति प्रकृति संक्षेपः फलतः प्राचीन भारतीय विचारों ने राज्य एवं राजा की उत्पत्ति के विवेचन में कोई भेद स्थापित नहीं किया है।

राज्य की उत्पत्ति का दैवी सिद्धान्त—भारतीय वाङ्मय में इस सिद्धान्त के बीज विद्यमान हैं कि राज्यसंस्था ईश्वरीय है। राजा में देशों का अंश विद्यमान है तथा जिस अधिकार से वह पृथ्वी पर शासन करता है वह भी ईश्वरप्रदत्त है। कौटिलीय अर्थ-शास्त्र में इस सम्बन्ध में जो विवरण आया है वह निम्न है—

'राजा इन्द्र और यम का स्थानीय होता है, कृपा और कोप उसमें प्रत्यक्ष से होते हैं। जो उसका अपमान करता है, उसे दैवी दन्ड प्राप्त होता है।"[२]

मनुस्मृति में तो यह सिद्धान्त और भी अधिक स्पष्ट शब्दों में वर्णित है—

"ईश्वर ने राजा का निर्माण इन्द्र, अग्नि, यम, सूर्य, वायु, वरुण, चन्द्र और कुबेर से अंश लेकर किया है।"[३]

महाभारत में प्रधानतया सामाजिक अनुबंध का सिद्धांत ही प्रतिपादित है परन्तु कहीं-कहीं, उसमें ऐसे संदर्भ भी विद्यमान हैं जो दैवी सिद्धांत के सूचक हैं। शांतिपर्व में कहा गया है—"देव और नरदेव (राजा) एक समान हैं।"

"देवाश्च नरदेवाश्च तुल्या इति विशापते।"

महा, शांतिपर्व, ५८/१५३

इसी पर्व में अन्यत्र कहा गया है—"राजा भी एक मनुष्य है, यह समझ कर उसका अपमान नहीं करना चाहिये।

---

१. कौ० अर्थ, १/९

२. मनुस्मृति, ७/३-६

इस प्रकार पुरातत्व भी प्राचीन भारतीय राजशास्त्री को जानने में सहायक है क्योंकि वह मनुष्य के रूप में वस्तुतः एक महती देवता है।" [१] इसी पर्व में प्रभू (प्रजापति विष्णु) द्वारा मानस पुत्र विरजस की उत्पत्ति उसके राजा होने से इन्कार करने पर कर्दभ, ऊनंग और अतिबल का राजा बनना भी भगवान विष्णु द्वारा मनुष्यों के लिये राजा निर्धारित करने का सूचक है।

इससे समता रखते हुये विचार योरप तथा मध्य पूर्व के मध्यकालीन विचारकों ने भी राजा एवं राज्य के सम्बन्ध में प्रकट किये हैं। योरप में सिद्धांत का जन्म ईसाई धर्मगुरुओं द्वारा हुआ जिन्होंने राजा के अधिकार को चुनौती देना ईश्वर को चुनौती देने के समान कहा। उदाहरणार्थ पाल ने घोषणा की—"राजा के अधिकार ईश्वर प्रदत्त हैं। जब कोई इसका विरोध करता है, तो ईश्वर का विरोध करता है।'[२] सेन्ट अम्ब्रोसिआस्टर तथा सेन्ट आगस्टाइन आदि ने राजा को ईश्वर का दूत माना।

"The Powers that be are ordained by God. Who shever therefore resteth the power the ordinance of God.

परिणामतः योरोपीय राजाओं ने अपने को सर्वशक्तिमान, ईश्वरी सत्ता से दीप्त, प्रजा पर जीवन एवं मृत्यु का अधिकार रखने वाला तथा अपने कार्यों के लिये अपने को केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदाती माना। उनका स्वरूप निरंकुश हो गया। ये विचार इंगलैंड के जेम्स प्रथम के १६०९ ई० में संसद के समक्ष दिये गये भाषण में स्पष्ट देखे जा सकते हैं। परन्तु भारत में इस दैवी-उत्पत्ति की विचार-धारा के प्रचलन के बावजूद भी यहाँ की राजसत्ता कभी निरंकुशता की ओर उन्मुख नहीं हुई और सदैव उसका प्रजाहितकार एवं सर्वकल्याणकारी रूप बना रहा।

(२) रक्षार्थ राज्य की उत्पत्ति—समाज की अराजक दशा एवं त्रास से रक्षा के हेतु राज्य की उत्पत्ति का सिद्धांत भी भारतीय वाङ्मय में विद्यमान है। महाभारत के शांति पर्व में बड़े विस्तार से इस सिद्धांत का प्रतिपादन है। युधिष्ठिर के प्रश्न का उत्तर देते हुये भीष्म ने बताया है कि कृतयुग के प्रारम्भ में राज्य का प्रादुर्भाव किस प्रकार हुआ कहा जाता है कि एक समय ऐसा था जब न राजा था और न राज्य; न दन्ड था और न दान्डिक। प्रजा धर्म द्वारा एक दूसरे की रक्षा करती थी। बाद में दैन्य (अभाव) उत्पन्न हुआ। मोह के कारण ज्ञान नष्ट हो गया; धर्म का विनाश हुआ तथा लोग लोभ के वशीभूत हो गये। लोभ से काम और काम से राग उत्पन्न हुआ। राग के कारण विवेक नष्ट हो गया। क्या करना चाहिये, क्या न करना चाहिये, क्या

१. महाभारत, शांतिपर्व, ६७/४०
2. W. A. Danning 's" A History of Political Theories, Ancient and Mediaeval, Page 178.

कहना चाहिये, क्या न कहना चाहिये, क्या दोष है क्या सही है इसका विवेक नष्ट हो गया। यह दसा थी। त्रस्त हुये लोग ब्रह्मा की शरण गये और उनसे इस दशा से अपनी रक्षा का उपाय पूछा।[1] ब्रह्मा उन्हें दन्डनीति का उपदेश दिया और इसी दन्डनीति से राज्य, राजा एवं राज कर्मचारियों की उत्पत्ति हुई। यहाँ स्पष्ट है कि ब्रह्मा ने स्वयं राजा का प्रदुर्भाव नहीं किया वरन् दन्डनीति का उपदेश दिया। राजसंस्था इसी दन्डनीति के अधीन है।

भोज द्वारा रचित 'समरांगण सूत्रधार' में भी यही दृष्टिकोण उपलब्ध है। वहाँ ब्रह्मा द्वारा प्रजा से कहलवाया गया है कि 'पृथु तुम सबका स्वामी है। वह सत्पुरुषों की रक्षा करेगा और दुष्टों को दन्ड देगा।'[2] प्रजा ने पृथु से कहा है कि 'हम विपत्तियों के समुद्र में निमग्न हो रहे हैं उससे हमारी रक्षा कीजिये। इस प्रकार रक्षार्थ राज्य की उत्पत्ति का यहाँ भी संकेत है।

मनुस्मृति[3] एवं मत्स्यपुराण[4] में भी इस बात का उल्लेख आया है कि संसार की रक्षा के लिये प्रभु ने राजा की सृष्टि की। जैन साहित्य में भी रक्षार्थ राज्य की उत्पत्ति का संकेत है। जैन विचारकों के अनुसार भी पहले स्वर्णयुग था, किसी वस्तु की कमी नहीं थी। धीरे-धीरे पदार्थों की कमी आई। दैन्य उत्पन्न हुआ। लोभ, मोह, काम, क्रोध, मद एवं हर्ष का जन्म हुआ। लोगों का नैतिक पतन हुआ और लोगों को समाज के नियंत्रण के लिये राज्य की आवश्यकता का अनुभव हुआ।

बौद्ध साहित्य में भी पहले स्वर्णयुग की कल्पना की गई है। समाज की व्यवस्था आदर्श थी। किसी प्रकार इस व्यवस्था का अधःपतन हुआ। लोग दुर्व्यवस्था से अधीर एवं त्रस्त हो उठे। परिणामस्वरूप 'महाजन सम्मत' नामक एक दिव्य पुरुष का उदय हुआ जिसने समाज में एक व्यवस्था स्थापित की।[2]

(३) **सामाजिक अनुबंध का सिद्धांत**—इस सिद्धांत के अनुसार राज्य की उत्पत्ति के पूर्व समाज एक भयंकर अराजक दसा थी। बलवानों द्वारा निर्बल पीड़ित हो रहे थे। इस दशा से त्रस्त होकर लोगों ने आपस में एक समझौता किया और इस समझौते के अनुसार सभी ने एक व्यक्ति को अपना राजा बनाना स्वीकार किया।

---

१. महा० शान्ति पर्व—अ० ५८/१४—२२
२. सम० सूत्रधार—अध्याय ७
३. मनुस्मृति—२२६/१
४. मत्स्यपुराण—७/३
५. दीर्घ निकाय—भाग ३, पृष्ठ८४—८६

इस सिद्धांत का सर्वाधिक विस्तृत विवेचन भारतीय ग्रन्थों में महाभारत में है। शान्ति पर्व में अराजक दशा का बड़ा विशद वर्णन करते हुये कहा गया है कि वह मत्स्य-न्याय की अवस्था थी। जिस प्रकार बड़ी मछली छोटी को खा जाती है उसी प्रकार उस दशा में सबलों द्वारा निर्बल नष्ट किये जा रहे थे। सर्वत्र स्वेच्छाचारिता थी। किसी का धन, पत्नी एवं पुत्र सुरक्षित नहीं था। जीवन एवं योगक्षेत्र भी सुरक्षित नहीं था। इस अराजक दशा से उद्विग्न होकर जनता ने पारस्परिक समझौता किया यह समझौता दो रूपों में था—(१) एक आपस में, (२) राजा के साथ। आपस से उन्होंने निम्न शर्तें निश्चित की—

(अ) हममें जो कोई वाकसूर (बढ़-बढ़ कर बात करने वाला), पारदारिक (पर स्त्रियों का भोग करने वाला) तथा दण्ड पुरुष (क्रूर) होगा, उसे हम समाज से बहिष्कृत कर देगें।

(ब) जो समझौते को नहीं मानेगा, उसे बहिष्कृत किया जायगा।

आपस में यह 'समझौता' करके वे ब्रह्मा के पास गये और उनसे अपने लिये किसी स्वामी का निर्देश करने की प्रार्थना की। ब्रह्मा ने मनु को निर्देश किया। मनु ने समाज में व्याप्त पापवृत्ति एवं मिथ्यावृत्ति के कारण राजा बनने में असहमति प्रकट की। तब प्रजा ने उनके समक्ष भी कुछ शर्तें स्वीकार कीं जो निम्न थीं—

(अ) हम पशुओं और सुवर्ण का पाँचवाँ अंश तथा धान्य का दशवाँ अंश आपको देगें जिससे आपके कोष की वृद्धि होगी।

(ब) शस्त्रधारी मुख्य व्यक्ति आपकी सहायता के लिये सदैव रहेंगे।

(स) प्रजा जो कुछ भी धर्माचरण का पुण्यसंचय करेगी उसका चौथा हिस्सा आप का होगा।

(द) इनके प्रतिफल के रूप में आप केवल हमारा धर्म पूर्वक पालन करें और हमें सुख की प्राप्ति करायें।

मनु ने राजा बनना स्वीकार कर लिया।[1]

आचार्य चणक्य ने भी इस सिद्धांत का उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है—
—मत्स्यन्याय से अभिभूत हुई प्रजा ने वैवस्वत मनु को अपना राजा बनाया और अपने धान्य का छठवाँ भाग तथा पण्य और सुवर्ण का दशवाँ भाग उसके 'भागधेय' के रूप में उससे प्रदान करने की व्यवस्था की।

"मात्स्यन्यायत्रिभूताः प्रजाः मनु वैवस्वतं राजान चक्रिरे। धान्यषड्भागं पण्यदशभागं हिरण्यं चास्य भागभेयं प्रकल्पयात्राषुः कौटिल्य अर्थ०–१/९

१. महाभारत शान्तिपर्व अ० ६६/१७—२८

मनुस्मृति[1] तथा मुक्तिकल्पतरु[2] आदि ग्रन्थों में भी इस सिद्धांत का उल्लेख किया गया है। बौद्धसाहित्य का 'महाजनसम्मन' भी पारस्परिक समझौते की ही देन था। जैन साहित्य में भी इस सिद्धान्त के संकेत विद्यमान हैं।

सिद्धान्त की सीमायें :—आधुनिक विद्वानों ने महाभारत आदि प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में वर्णित इस 'समयवाद' के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए इसे तर्क की दृष्टि से लचर तथा इतिहास की दृष्टि से अशुद्ध कहा है।

"It is now generally recognised that the Social Contract Theory of origin of government is bad history and vorse logic."

डॉ० अल्तेकर को इसमें निम्न अभाव दिखाई देते हैं—

(१) समझौते द्वारा राज्य की स्थापना एक सभ्य एवं राजनीतिक दृष्टि से जागरूक समाज में ही सम्भव है, प्राकृतिक अवस्था के अजागरूक समाज में नहीं।

(२) समझौता उस समाज में सम्भव है जहाँ लोग अपने अधिकार और कर्तव्य समझते हों। वनचरों की भाँति रहने वाले प्राकृतिक अवस्था के समाज के मानव से इसकी अपेक्षा नहीं की जा सकती।

'साम्यवाद' पाश्चात्य विचारकों की दृष्टि में—

यूरोप में इस सिद्धान्त का जन्म प्रोटेस्टेन्ट आन्दोलन के बाद हुआ। इसके प्रतिपादकों में हॉब्स, लॉक और रूसो प्रमुख थे।

(१) हाब्स :—संसार के आरम्भ में अराजकता थी। निर्बल सबल द्वारा त्रस्त था। ऊब कर लोगों ने अपने अधिकार एक राजा को सौंप देने का इकरार किया लेकिन जनता और राजा में कोई इकरार न हुआ फलतः राजा के अधिकार अनियंत्रित रहे।

(२) लाक :—लाक की दृष्टि में राज्य की स्थापना के पूर्व स्वर्ण-युग था। लोग विवेकपूर्वक एक दूसरे के प्रति सम्मानपूर्वक नियमों का पालन करते हुए निवास करते थे। परन्तु बुद्धि भेद एवं व्यक्तिगत स्वार्थों के कारण कभी-कभी मतभेद एवं संघर्ष होते थे जिनके निराकरण हेतु कोई अधिकृत दन्डिक एवं न्यायिक नहीं था। फलतः अराजकता फैली और उससे बचने के लिए लोगों ने 'समय' किया तथा सरकार की स्थापना की। इस 'समय' से राजा और प्रजा दोनों समान रूप से बँधे थे अतः राजा को अनियंत्रित अधिकार प्राप्त नहीं हुए।

---

१. मनुस्मृति—७/३, ७/२०

२. युक्ति, पृष्ठ—१०५

(३) रूसो :—रूसो ने हाब्स एवं लाक के दृष्टिकोण के मध्य समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की। उसके अनुसार मूलत: मानव स्वाधीन एवं प्रसन्न था। उसकी प्रारम्भिक सामाजिक दशा स्वर्णिम थी। बाद में व्यक्तिगत सम्पत्ति के उदय से इस सामाजिक व्यवस्था में व्यतिक्रम उत्पन्न हुए, परिवर्तन अपरिहार्य हो गया। लोग इस बात के लिए तैयार हुए कि स्वर्णिम प्राकृतिक दशा में अर्जित अपने व्यक्तिगत अधिकारों में से कुछ का त्याग करके उसे समाज को प्रदान किये जायँ। व्यक्तिगत प्रभुता सामूहिक प्रभुता के सम्मुख नत होने को तत्पर हुई, परिणामस्वरूप राज्य का जन्म हुआ।

भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टिकोणों की तुलना—

समता :—

(१) समाज के प्रारम्भ में हाब्स का अराजकता का सिद्धान्त हिन्दू ग्रन्थों में भी वर्णित है[1] (महाभारत) तथा हॉब्स के इस मत का भी समर्थन हिन्दू ग्रन्थों में हो जाता है कि प्रथम राजा तथा जनता के मध्य कोई 'समय' न था। ब्रह्मा ने जो प्रथम राजा बनाया, उससे जनता का कोई समय न था।

(२) लाक की प्रारम्भिक स्वर्णिम प्राकृतिक दशा का वर्णन भी भारतीय ग्रन्थों में विद्यमान है।

"According to Locke, the state of Nature in the pre-government period was more or less analogous to the Golden Age of Hindu Mythology."

महाभारत इस बात का विस्तार पूर्वक वर्णन करता है कि इस अवस्था में व्यतिक्रम किस प्रकार उत्पन्न हुआ। जो कारण वहाँ बताये गये हैं वे लाक एवं रूसो द्वारा बताये गये कारणों से मिलते-जुलते हैं। लाक प्रजा एवं राजा के मध्य स्पष्ट समझौता मानते हैं जिससे राजा के अधिकार नियन्त्रित थे। हिन्दू विचारकों ने भी 'धर्मशास्त्र' की व्यवस्था की है जिसके अनुसार राजा को शासन करना था।

(३) पाश्चात्य एवं भारतीय दोनों ही दृष्टिकोण इस बात पर एकमत हैं कि राज्य की स्थापना जनता की इस इच्छा से हुई कि अराजकता और अव्यवस्था समाप्त हो तथा समाज में एक सुखद व्यवस्था स्थापित हो।

भिन्नता :—

(१) पाश्चात्य दृष्टिकोण पर्याप्त विकसित एवं विस्तृत है। उसमें सिद्धान्त के विभिन्न पक्षों की समुचित व्याख्या की गई है जबकि भारतीय दृष्टिकोण सीमित

1. Like most of the ancient Indian thinkers, Hobbes held that there was a state of anarchy in the beginning."

—डॉ० अ० स० अल्तेकर, वही पृष्ठ ३२।

है। उसमें विभिन्न पक्षों की समुचित व्याख्या नहीं है। उदाहरणार्थ हिन्दू विचारकों ने यह तो कहा कि राजा के कर्तव्य च्युत होने पर प्रजा को उसे हटाने का अधिकार है परन्तु यह नहीं बताया कि किन परिस्थितियों में राजा को समझौता तोड़ने का दोषी समझा जाय तथा उसे किन वैधानिक उपायों द्वारा हटाया जाय।

(२) पाश्चात्य दृष्टिकोण का आधार तार्किकता है जब कि हिन्दू विचारकों ने उसे अर्ध-धार्मिक और अर्धलौकिक दृष्टि से देखा है। इसलिए भारतीय दृष्टिकोण में अभाव है।

(३) हिन्दू विचारकों की दृष्टि में समझौता एक पक्षीय न था वरन प्रजा और राजा दोनों उससे बँधे थे जब कि हॉब्स इसे एक पक्षीय मानते हैं। लॉक और रूसो अवश्य इस दृष्टि से हिन्दू विचारकों के समीप हैं, अन्तर यह है कि लॉक 'ममय' की शर्तों के अनुसार राजा के अधिकारों का नियंत्रण चाहते हैं जबकि हिन्दू विचारक ब्रह्मा द्वारा निर्मित दैवी 'धर्मशास्त्र' द्वारा उनका नियंत्रण करते हैं।

यू० एन० घोषाल के अनुसार :—

"The Buddhist theory of contract, virtually, exists as an isolated phenomenon in the history of political thought."

आर० एस० शर्मा के विचार इस प्रकार हैं :—

"The contract theory of the origin of the state should be regarded as an original contribution of ancient Indian thinkers to political thought, for even the Greek thinkers, Plato and Aristotle, did not think in terms of contract between the king and the people……the origin of the contract theory in India may be attributed to the prevalence of oligarchical rule."

(४) **युद्धगत आवश्यकताओं से राज्य को उत्पत्ति**—इस सिद्धान्त का संकेत ऐतरेय ब्राह्मण में है जहाँ कहा गया है, "देवों और असुरों में युद्ध हो रहा था। असुरों ने देवों को परास्त कर दिया। इस पर देवों ने कहा कि हमारा कोई राजा नहीं है, इसी कारण असुर हमें जीत लेते हैं, हम भी राजा बना लें। इसे सबने स्वीकार कर लिया।"[१] इस प्रकार राज्य का जन्म हुआ। डॉ० बेनी प्रसाद के अनुसार, "The kingship originates in military necessity and derives its validity from consent."

वर्तमान विचारकों के अनुसार भी समाज की आरम्भिक अवस्था में युद्धों की अधिकता थी। जीवन शांतिमय नहीं था। युद्धों के समुचित सञ्चालन के लिए सभी टोलियों को एक योग्य नेता की आवश्यकता रहती थी जिसमें योग्यता, साहस और बल का समावेश हो। लोग शांति काल में भी इस नेता के आदेश का पालन करते थे। इसी युद्ध नेतृपद ने कालान्तर में राज-पद का स्थान ग्रहण किया।

१. ऐतरेय १/१४

(५) विकासवादी सिद्धान्त :—वर्तमान राजनीति शास्त्र विशारदों का विकासवादी सिद्धान्त भी प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में निरूपित है। इनका सबसे प्राचीन उल्लेख अथर्ववेद में है।[१] इसके अनुसार राज्य संस्था क्रमिक विकास का परिणाम है। राज्य संस्था से पूर्व विराट दशा थी जिसमें अराजकता थी। इस भयावह दशा से त्रस्त होकर वार्हंपत्य संगठनों का निर्माण हुआ। सबसे पहले परिवार बना। उससे विकसित होकर ग्राम संगठन का उदय हुआ। इसे 'आहवनीय' दशा कहा गया है। उससे विकसित होकर 'दक्षिणाग्नि' दशा आई जिसमें ग्राम की अपेक्षा एक और बड़े संगठन का जन्म हुआ। इसी दशा से विकसित होकर 'सभा' और 'समिति' का निर्माण हुआ और इस प्रकार राज्य-संस्था का जन्म हुआ।

आधुनिक विचारकों के कुछ अन्य सिद्धान्त—

(१) स्वेच्छया अधिकार-दान—कुछ आधुनिक विचारकों के अनुसार लोगों ने स्वेच्छा से किसी व्यक्ति को शासन सञ्चालन का भार प्रदान किया होगा। यह व्यक्ति अलौकिक शक्ति से दीप्त समझा जाता रहा होगा। सामान्यतया पुजारी, जादूगर या चिकित्सकों में दैवी शक्ति समझी जाती थी। एक वार अधिकार प्राप्त कर लेने पर उस व्यक्ति ने उसे वनाये रखने की चेष्टा की होगी तथा सफलता मिलने पर वह राजा वन गया होगा।

(२) पैतृक संयुक्त-परिवार प्रणाली से राज्य का उदय :—डॉ० अ० स० अल्तेकर के अनुसार आर्यों की संयुक्त परिवार प्रणाली में राज्य-संस्था के वीज निहित थे। इन कुटुम्वों में सदस्यों की संख्या वहुत अधिक होती थी। होमरकालीन यूनान में दो-दो सौ और तीन-तीन सौ व्यक्तियों के परिवार थे। इन परिवारों के गृहपति के अधिकार राजा के ही समान थे। कुटुम्व-संख्या का विस्तार होने पर गृहपति के अधिकार भी बढ़ते हुए। ऋग्वेद कालीन समाज कुटुम्वों, जन्मनों, विशों एवं जनों में विभाजित था। जन्मन् सम्भवतः एक ही पूर्वज के वंशजों का ग्राम था। इस प्रकार के कई जन्मन् मिल कर एक 'विश' तथा कई 'विश' मिलकर एक 'जन का निर्माण करते थे जिसका प्रमुख जनपति या राजा होता था। डॉ० अल्तेकर ने भारत की इस वैदिक समाज व्यवस्था का साम्य प्राचीन रोमन समाज व्यवस्था से भी स्थापित किया है। वहाँ भी सवसे छोटा अंग 'जेन्स' एक ही वंश के कुलों का समूह था। कई 'जेन्स' मिलाकर 'क्यूरिया' और दश 'क्यूरिया' की एक ट्राइव' वनती थी। इस प्रकार अन्य आर्य-जातियों की भाँति भारत में भी प्रागैतिहासिक काल में संयुक्त-कुटुम्व से ही राज्य-संस्था का विकास हुआ।

"The institution of the joint family thus gradully led to the evolution of kingship."

---

१. अथर्ववेद ८/१०/१

(ब) प्राचीन भारत में राज्य के प्रकार

राजतन्त्र प्राचीन भारत की सर्वाधिक मान्य शासन-प्रणाली थी। परिणामस्वरूप प्राचीन भारत के ग्रन्थकारों ने सबसे अधिक विवेचन राजतन्त्र का ही किया है परन्तु शासन पद्धति के दूसरे प्रकारों के उल्लेख भी यंत्र-तंत्र विद्यमान हैं जिनसे उनके अस्तित्व की पुष्टि होती है।

विविध प्रकार के राज्यों का विकास—वैदिक युग में छोटे-छोटे जनराज्यों की सत्ता थी। इन जनों के सभी व्यक्ति प्रायः 'सजात' या 'सनाभि' होते थे। अनेक स्थलों पर यदु, पुरु, अणु तुर्वशु आदि विशिष्ट जनों का वर्णन है। उत्तर-वैदिक काल में प्रादेशिक राज्यों का विकास हुआ तथा 'विश' एवं 'जन' के साथ-साथ अपने के लिए 'राष्ट्र' शब्द का प्रयोग किया जाने लगा। ब्राह्मण साहित्य में सम्राट का वर्णन किसी 'जन' के अधिपति के रूप में नहीं वरन् पृथ्वी के अधिपति के रूप में होने लगा। जनराज्यों तथा विविध राष्ट्रों के पारस्परिक संघर्ष के कारण महाजनपदों का विकास हुआ जिनमें विविध प्रकार की शासन पद्धतियाँ प्रचलित हुईं। ऐतरेय ब्राह्मण की अष्टम् पंजिका के एक उल्लेख में इस युग के विविध शासन-प्रकारों का वर्णन है जो निम्न है—

(१) **साम्राज्य**:—मगध, कलिङ्ग, वंग आदि के राजाओं का अभिषेक 'साम्राज्य' के लिए होता है तथा वे सम्राट' कहे जाते हैं।

(२) **भोज्य**: - दक्षिण के सत्वत (यादव) राज्य का शासन 'भोज्य है और उनके राजा 'भोज' कहे जाते हैं।

(३) **स्वराज्य**:—पश्चिम दिशा में सुराष्ट्र कच्छ, सौवीर आदि का शासन प्रकार 'स्वराज्य' है और यहाँ के शासक 'स्वराष्ट्र' कहे जाते हैं।

(४) **वैराज्य**—उत्तर में उत्तरकुरु एवं उत्तरमद् आदि राज्यों में 'वैराज्य' शासन प्रणाली है और वहाँ के शासक 'विराट' कहे जाते हैं।

(५) **राज्य**—मध्यदेश में कुरु, पांचाल आदि राज्य हैं जिनके शासक 'राजा' कहे जाते हैं।

इन उपाधियों की निश्चित व्याख्या तो कठिन है परन्तु इनकी सम्भावित व्याख्या निम्न प्रकार से की जा सकती है।

(१) **सम्राट**:—वंशाक्रमानुगत राजा जो अपनी शक्ति के विस्तार के लिए दूसरे राज्यों का मूलोच्छेदन करने में लगा हो।

(२) **भोज**—वंश क्रमानुगत न होकर जो कुछ निश्चित समय के लिए राजा के पद पर नियुक्त किये जाते थे।

(३) **स्वराट**—जहाँ कुलीन श्रेणियों का शासन हो, सभी शासन करने वाले कुलों की स्थिति समान हो। इन्हीं समान श्रेणी के ज्येष्ठ व्यक्ति को शासन भार सौंपा जाता रहा होगा तथा उसे 'स्वराट' कह कर सम्बोधित करते रहे होंगे।

(४) विराट—वैराज्य शब्द गणतांत्रिक जनपदों का परिचायक है। जहाँ राजा न हो, जनता अपना शासन स्वयं करती हो। ऐसे राज्यों में जनप्रतिनिधियों की ही संज्ञा विराट' रही होगी।

(५) राजा—उन राज्यों के शासक जो वैदिक काल के परम्परागत छोटे-छोटे जनपदों के रूप में विद्यमान थे।

डी० आर० भण्डारकर तथा अलतेकर ने इन शब्दों पर विचार करते हुए कहा है कि क्या ये सम्राट, भोज, स्वराट, विराट, राजा आदि राजतंत्र की विभिन्न स्थितिय के घोतक हैं अथवा वे विभिन्न शासन प्रणालियों का संकेत हैं ?

इस संदर्भ से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उत्तर वैदिक काल में अनेक प्रकार की शासन प्रणालियों का विकास हो गया था तथा उस समय राज्य के विविध प्रकार विद्यमान थे। कालान्तर में भी विभिन्न प्रकारों का अस्तित्व सुरक्षित रहा, यद्यपि प्राधान्य सदैव राजतन्त्र का ही था। इनका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है :—

(६) राज तन्त्र—सर्वाधिक प्रचलित पद्धति थी।[1] राजा, महाराजा, महाराजा,

"...monarchy was the norm of the Hindu State." D. R. Bhandarkar, Some Aspects of Anc. Hindu Polity,

धिराज, सम्राट, भोज आदि उपाधियाँ राजाओं के पद, गौरव तथा शक्ति के अनुकुल प्रदान की जाती थीं। उदाहरणार्थ राजा का राज्य सम्राट के राज्य से छोटा होता था किन्तु वह पूर्ण स्वतन्त्र था ' वेदोत्तर युग में छोटे-छोटे करद-सामन्त राज्यों का भी अस्तित्व था। डा० अल्तेकर के अनुसार सम्भवत: वैदिक युग में भी यही स्थिति रही हो।[2] इस तन्त्र के भी प्राचीन भारत में तीन रूप थे—

(क) ऐसे राज्य जहाँ शासन,सूत्र एक ही राजा के हाथ में केन्द्रित था। बहुलता ऐसे ही राज्यों की थी।

(ख) द्वैराज्य:—प्राचीन स्पार्टा की भाँति ऐसे राज्य जो राजाओं द्वारा शासित हों। उदाहरणार्थ, सिकन्दर के आक्रमण के समय का पाटल (आ० सिन्ध) राज्य जहाँ पृथक वंशों के दो राजाओं का संयुक्त शासन था। कौटिल्य ने भी ऐसे राज्यों का उल्लेख किया है।[3] परन्तु कौटिल्य इस पद्धति के पक्षपाती नहीं हैं क्योंकि इनमें प्राय: सङ्घर्ष एवं दलवन्दी का बोलवाला रहता है।[4] ऐसे राज्यों का सङ्घर्ष के कारण प्राय: बँटवारा भी हो जाता था। उदाहरणार्थ शुङ्गों द्वारा स्थापित विदर्भ का द्वैराज्य। आचारंग सूत्र में इनके पारस्परिक सङ्घर्ष का संकेत मिलता है। यहाँ कहा गया है कि जब दोनों शासकों में मेल रहता था तो उस राज्य को द्वैराज्य (दोरज्ज) और जब उनमें सङ्घर्ष रहता था तो तो उसे विरुद्ध-राज्य (विरुद्ध-रज्य) कहते थे।[5]

---

१. पृष्ठ ८०
२. 'प्रा० भा० शासन पद्धति' पृष्ठ—३१
३. अर्थशास्त्र ८/२
४. उपर्युक्त
५. आचारंग सूत्र, २, ३, १, १०।

(ग) अर्थशास्त्र में राजतंत्र के एक तीसरे रूप का भी उल्लेख मिलता है जहाँ शासन सूत्र एक या दो व्यक्तियों के हाथ में नहीं वरन् सामूहिक रूप से एक राजकुल के हाथ में रहता था। इसे कौटिल्य ने 'कुल संघ' कहा है तथा डॉ० भण्डारकर ने 'कुल' शब्द का तात्पर्य 'परिवार' से लिया है। इस पद्धति में राज परिवार के सभी सदस्यों द्वारा सामुहिक रूप से शासन होता था। इसके दो उदाहरण मगध के इतिहास से सम्वन्धित प्राप्त हैं। महावंश के अनुसार शैशुनाग वंश के शासक कालाशोक के बाद सश पुत्रों ने सामूहिक रूप से मगध पर शासन किया। इसी प्रकार पुराणों में नवनन्दा (पिता और उसके आठ पुत्र) का वर्णन है जिन्होंने सम्मिलित रूप से शासन किया था।

शुक्रनीति में राजाओं की आय के आधार पर उनका वर्गीकरण किया गया है।[1]

१. सामन्त	....	१से ३ लाख रजत कर्श आय वाले।
२. माण्डलीक	....	४ से १० लाख आय।
३. राजन	....	११ से २० लाख।
४. महाराज	....	२१ से ५० लाख।
५. स्वराज्य	....	५१ से १०० लाख।
६.सम्राज	....	१ से १० करोड़ कर्श वाले।
७. विराज	....	११ से ५० करोड़।
८. सार्वभौम	....	५१ करोड़ से ऊपर आय वाले।

इस विवरण से स्पष्ट होता है कि राजाओं की विभिन्न श्रेणियाँ उनकी शक्ति एवं विस्तार के आधार पर विद्यमान थी।

(२) कुलीन तन्त्र:—शतपथ ब्राह्मणों में कहा गया है कि वही व्यक्ति राजा वन सकता है जिसे अन्य राजाओं ने सहमधि दी हो, कोई अन्य नहीं[2]।

"यस्मै वै राजानो राज्यमनुमन्यंते स राजा भवति न स यस्मै न।"

ऋग्वेद में भी राजाओंकी समिति का वर्णन है।[3] इन स्थलों से हमें उस शासन-तन्त्र का संकेत मिलता है जिसमें अधिकार उच्चवर्ग या सामन्तों की परिषद के हाथ में केन्द्रित रहा होगा। ये सामंत भी राजा कहे जाते रहे होंगे तथा राज्य के सर्वोच्च अधिकारी के चुनाव का अधिकार भी उन्हें प्राप्त रहा होगा। उस सर्वोच्च अधिकारी की उपाधि भी राजा रही होगी डॉ० अल्तेकर ने देश के कुछ हिस्सों में इस प्रकार की शासन प्रणाली का छठवीं शताब्दी ई० पूर्व तक माना है।

(३) गणराज्य :—प्राचीन भारत में गणराज्यों का अस्तित्व भी वैदिककाल से ही मिलता है। ऐतरेत ब्राह्मण में वर्णित उत्तर-मद्र एवं उत्तर-कुरु आदि जनों की वैराज्य पद्धति, प्रजातंत्र ही थी जिसमें कोई एक व्यक्ति राजा नहीं होता था।

---

१. शुक्रनीति १-१८२।
२. श० व० ९, ३, २, ५।
३. ऋ० वे० १०, ९७, ६।

कौटिलीय अर्थशास्त्र में लिच्छवि, वृजि, मल्ल, मद्रक, कुकुर, कुरु, पंचाल आदि गणों का उल्लेख किया है। पाणिनी ने अपने अष्टध्यायी में भी गणों का उल्लेख किया है सिकन्दर के समकालीन यवन-लेखकों ने भी उनका उल्लेख किया है। बौद्ध एवं जैन साहित्य में भी यत्र-तत्र इनका वर्णन है। इन गणराज्यों के सिक्के भी प्राप्त हैं जिन पर उनकी 'गण' संज्ञा अंकित है। ये गण राज्य विशुद्ध प्रजातंत्र थे अथवा जातीय संघ मात्र, इस प्रश्न पर विवाद है और इसका निराकरण गणराज्यों के स्वतंत्र अध्याय में किया गया। इन गणों में शासन-संचालन के विविध रूप थे और इस आधार पर इन्हें कई कोटियों में वर्गीकृत किया जा सकता है।

नगर-राज्य :—यवन लेखकों के विवरण से प्राचीन-भारत में नगरराज्यों के अस्तित्व की भी पुष्टि होती है। एरियन द्वारा वर्णित न्यासा राज्य एक नगर ही था। डायोडोरस द्वारा उल्लिखित शिवि राज्य भी नगर-राज्य ही था। अद्रेस्टियों का पिंप्रम, कठों का जंगल तथा सिंध का पाटल राज्य आदि नगरराज्यों के ही उदाहरण हैं। डॉ० अल्तेकर ने त्रिपुरी, माध्यमिक उज्जयिनी वाराणसी बाद में हुई थी। उनकी यह धारणा इन नगरों से प्राप्त मुद्राओं पर आधारित है।[1] इन राज्यों में समीपवर्ती गाँव भी सम्मिलित रहते थे यद्यपि इनका शासन संचालन नगर से ही होता था।

(५) राज्य-संघ एवं सम्मिलित राज्य—(Federal and Composite State:—डॉ० अलतेकर के अनुसार शासन तंत्र के ये दोनों रूप भी प्राचीन भारत में विद्यमान थे। ऐसे राज्यों के कई उदाहरण विद्यमान हैं। यथा—उत्तर वैदिक काल में कुरू पांचालों का सम्मिलित राज्य, क्षुद्रक एवं मालव जिन्होंने सिकन्दर के आक्रमण का सामना करने के लिये एक संघ बनाया था, यौधेय गण जो तीन उपराज्यों का एक संघ था तथा लिच्छवि, मल्ल संघ आदि। ये संघ प्रायः अल्पकालिक होते थे, किसी वाह्य संकट के निराकरण या अन्य किसी आंतरिक आवश्यकता से इनका गठन होता था तथा उस आवश्यकता की पूर्ति के बाद यह सम्बन्ध समाप्त भी हो सकता था। लिच्छिवियों का पहले मल्लों के साथ संघ था, बाद में उन्होंने विदेह के साथ संघ निर्मित किया। इन राज्यों में एक केन्द्रिय समिति होती थी जिसके सदस्यों का चयन संघ में सम्मिलित राज्यों से समानता के आधार पर होता था। उदाहरणार्थ लिच्छिवि एव मल्ल की केन्द्रीय मंत्री परिषद में १८ सदस्य थे जिनमें ९ लिच्छिवियों द्वारा तथा ९ मल्लों द्वारा चुने जाते थे। इनकी कार्य प्रणाली का विस्त्रित ज्ञान नहीं है।

बी० ए० सालेटोर ने अलतेकर की आलोचना की है कि यह बता पाना बड़ा कठिन है कि राज्य संघ तथा सम्मिलित राज्य में वास्तविक अतंर क्या है ? अलतेकर स्वतः दोनों के मध्य अन्तर को स्पष्ट नहीं कर पाये हैं।

---

१. डॉ० अ० स० अल्टेकर—'प्राचीन भा० शासन पद्धति' पृष्ठ ३३।

अध्याय ३

राज्य का स्वरूप, उद्देश्य एवं कार्य

स्वरूप : सप्तांग सिद्धान्त :—

प्राचीन भारतीय मनीषियों को अवधारण में राज्य एक जीवित-जागृत शरीर है। जिस प्रकार मानव. पशु या वृक्ष आदि के शरीर में विभिन्न अंग होते हैं जो एक दूसरे के पूरक होते हैं, उसी प्रकार राज्य भी सावयव है। कौटिल्य, मनु, शुक्र एवं कामादक आदि सभी ने राज्य को एक सजीव एकात्मक चासन-संख्या मानकर उसके धिभिन्न अंगों का वर्णन एवं उनके सापेक्ष महत्व का निरूपण किया है। कौटिल्य ने इन्हें सात 'प्रकृतियों' के नाम से सम्बोधित किया है तथा स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश; दण्ड और मित्र की गणना सातों प्रकृतियों के रूप में की है।[1]

"स्वाम्यमात्य जनपद दुर्ग कोष दण्ड मित्राणि प्रकृतयः।"

शुक्रनीतिसार में राज्य की तुलना वृक्ष से की गई है—"राज्य रूपी वृक्ष की जड़ राजा है, स्कन्ध मन्त्री है, सेनापति शाखाएँ हैं, सैनिक पत्ते और फूल हैं, प्रजा फल है और भूमि बीज है।"[2]

"राज्य वृक्षस्य नृपतिः मूलं स्कन्धाश्च मन्त्रिणः।
शाखास्सेर्नाधिपा सेनाः पल्लवाः कुसुमानि च॥
प्रजाः फलानि भूभागाः बीजं भूमि प्रकल्पिता॥

महाभारत में भी राज्य के सप्तांग स्वरूप की मान्यता वर्णित है। प्रायः सभी नीति ग्रंथों में राज्य के इस रूप का उल्लेख है।

प्राचीन भारतीय विचारकों की यह धारणा केवल राज्य के ही सम्बन्ध में नहीं थी वरन् समाज को भी उन्होंने सावयव माना था। ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामक चारों वर्ण उसके चार अपरिहार्य अंग थे। इनमें से प्रत्येक दूसरे का पूरक था। राज्य के सावयव स्वरूप की यह धारणा प्राचीन यूनान में भी थी। अरस्तू ने भी राज्य के कई अंग बताये थे, यथा कृषक शिल्पी, व्यापारी, श्रमिक, योद्धा, न्यायिक, धनिक वर्ग, राज्य के कर्मचारी तथा राजनयिक।[3] लेकिन अरस्तू के इस दृष्टिकोण का साम्य भारतीय समाज और उसके चार अंगों से स्थापित किया जा सकता है।

---

१. अर्थ ६.१
२. "शुक्र. ५, १२-१३
३. Aristotle, 'Politics,' iv ४-९ पृष्ठ १५३-५४

(१) स्वामी : - स्वामी से तात्पर्य राजा से है। सप्तांग राज्य में उनका स्थान सर्वोपरि था। वही दण्ड को धारण करता था। तथा समाज में मर्यादा स्थापित करता था परन्तु इस अवधारणा में राजा की स्वेक्षाचारिता या निरंकुशता को कोई स्थान नहीं था। राजा भी दण्ड के अधीन माना जाता था। राज्याभिषेक के समय वह प्रतिज्ञा करता था कि मैं दण्डनीति में प्रतिपादित धर्म का पालन करूँगा तथा कभी भी स्ववश (निरंकुश) नहीं होऊँगा।[1]

राज्य के इस सर्वोपरि अंग स्वामी (राजा) का वर्णन विस्तार से राज्यतंत्र से सम्बन्धित पृथक अध्याय में किया जायेगा।

(२) अमात्य :—राज्य पदाधिकारियों को 'आमात्य' कहा जाता था। वे राज्य संस्था के महत्वपूर्ण अंग थे। कौटिल्य ने इनके गुणों इनकी नियुक्ति तथा इनके कार्यों का विस्तृत विवेचना किया गया है।

गुण:—उत्कृष्ट प्रज्ञा, स्मृति, बुद्धि एवं बल से युक्त हो; आत्मसंयमी एवं शिल्पों में निपुण हो; व्यसनरहित हो; आकार तथा अपकार द्वारा दण्ड के प्रतिपादन में समर्थ हो, लज्जा एवं संकोचयुक्त हो; विपत्तियों के निवारण में समर्थ, दूरदर्शी देश-काल व पुरुषार्थ से सम्बन्धित अवसरों का प्रयोग करने में समर्थ हो; सन्धि युद्ध तथा दूसरों के साथ किये गये निर्णयों को स्थिर रखने में समर्थ हो; शत्रु की निर्बलता का लाभ उठाने की क्षमता से युक्त हो; काम, क्रोध, लोभ, हठ, चपलता, जल्दवाजी तथा पैशुन्य से रहित हो, आवश्यकतानुसार मधुर या कठोरभाषी हो; तथा वृद्धों तथा बताये हुए आचार का पालन करने वाला हो।[2] मनुस्मृति में भी आमात्य के इसी प्रकार के अनेक गुणों का उल्लेख किया गया है।

नियुक्ति:-कौटिल्य ने इनकी नियुक्ति के पूर्व कुछ उपायों (परख) की व्यवस्था की है। धर्म, अर्थ काम और भय की कसौटी पर रख कर उनकी परख की जाय कि कहीं इन आधारों पर वे भविष्य में कर्त्तव्य-च्युत नहीं होंगे। जो व्यक्ति धर्मोपधाशुद्ध, अर्थोपधाशुद्ध; कामोधाशुद्ध तथा भयोपधाशुद्ध प्रमाणित हों उन्ही को आमात्य नियुक्त किया जाय।[3] कौटिल्य ने इसका भी विचार किया है कि आत्माय किसे नियुक्त किया जाय। इस सम्बन्ध में उन्होंने अन्य विचारकों के मत भी उद्धरित किये हैं। भारद्वाज के अनुसार राजा को अपने सहपाठियों को ही आत्मात्य नियुक्त करना चाहिए क्योंकि राजा इनसे भली प्रकार परिचित रहता है। परन्तु विशालाक्ष इस मत से सहमत

१. महाभारत शान्ति-पर्व ५८-११६
२. अर्थ—६-१
३. उपर्युक्त—६-१

नहीं थे क्योंकि ऐसे लोग बचपन से राजा के समीप रहने के कारण उसका समुचित सम्मान नहीं करते। उनके अनुसार आमात्य उस व्यक्ति को नियुक्त किया जाय जिसका शील और व्यसन राजा के शील और व्यसन के समान हो तथा राजा जिसके गुप्त रहस्य को जानता हो। पाराशर ने इस मत का खण्डन करते हुये ऐसे व्यक्ति को आमात्य नियुक्त करने की राय दी जिसने संकट के समय राजा की रक्षा की हो और जिसका राजा के प्रति अनुराग हो। पिसुन ने इनका खंडन इस आधार पर किया कि यह आवश्यक नहीं है कि जिसमें राज के प्रति भक्ति हो उसमें बुद्धि और गुण भी विद्यमान हो, अतः जिसके गुण विदित हो उन्हीं को आमात्य नियुक्त किया जाय। कौणपदन्त ने ऐसे व्यक्तियों को आमात्य नियुक्त करने की राय दी जिनके कुल में यह पद वंशक्रमानुगत रूप से चला आ रहा हो परन्तु वातव्याधि ने इसका भी खंडन किया क्योंकि ऐसे लोग राजा के साथ समानता का व्यवहार करने लगते हैं अतः नीति के ज्ञाता नये व्यक्तियों को आमात्य बनाना चाहिये। बाहुदन्तीपुत्र ने वृद्धि, शौर्य, शुचिता, अनुराग आदि गुणों के आधार पर अमात्य नियुक्त किये जाने की राय दी। कौटिल्य ने इन सभी मतों में सत्य का अंश मानते हुये, देश और काल को दृष्टिगत रखते हुये आमात्य नियुक्त करने का निर्देश दिया है।[3]

कार्य—कौटिल्य के अनुसार अमात्य राज्य के सभी कार्यों का मूल है। जनपद की कर्मसिद्धि, अपना व दूसरों का योगक्षेत्र, साधन विपत्तियों का प्रकार खाली पड़ी हुई भूमि को बसाना, सेना का संगठन, करों को एकत्र करना आदि कार्य उन्हीं द्वारा सम्पादित होते हैं।

भारद्वाज आदि कुछ विचारक तो अमात्य को राजा से भी अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं परन्तु राज्य के अन्य अंगो (प्रकृतियों) की तुलना में आमात्य अधिक महत्व का था। राजा दण्ड का प्रयोग आमात्य वर्ग की सहायता और उनके माध्यम से करता था।

जनपद–राज्य का तीसरा अंग है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में इसके गुणों का वर्णन किया गया है। कौटिल्य ने जनपद के अंतर्गत भूमि एवं उस देश में निवास करने वाली जनता दोनों का तात्पर्य लिया है।

गुण–जो स्थापना हो––उसका क्षेत्रफल इतना हो कि संकट के समय उसकी पैदावार से उसके निवासियों का पालन- पोषण हो सके; जिसके मध्य एवं सीमाओं पर पुर (नगर) हो; आत्म निर्भर हो; जिसमें सामन्तों और पड़ोसी राजाओं को वश में रखने के की क्षमता हो; जिसमें दलदलों, पत्थरों वाली, ऊसर व काटों

१. अर्थ—१/४

भरी जमीन न हो, सांपों व जंगली पशुओं की प्रचुरता न हो। देखने में सुन्दर हो, जिसमें कृषि योग्य भूमि, खानों तथा हाथियों और इमारती लकड़ी के से परिपूर्ण जंगलों की प्रचुरता हो; चरागाह हो। जलवायु बलदायक हो, गुप्त मार्ग पशुओं की प्रचुरता हो जो सिंचाई के लिये केवल वर्षा पर निर्भर न करें। जिसमें स्थल और जलमार्ग हों। जिसमें सेना और करों का बोझ उठाने की क्षमता हो। जिसके कृषक कर्मठ हों स्वमी और अवर वर्णों के लोग बुद्धिमान हों तथा जिसकी जनता राज्य के प्रति भक्ति रखने वाली पवित्र आचरण रखने वाली हो।[1]

वस्तुत: कोश और सेना जनपद पर ही निर्भर करती हैं। साथ ही कृषि, पशु-पालन, वाणिज्य आदि भी जनपद द्वारा ही सम्भव है। पर्वत, द्वीप, दुर्ग आदि भी जनपद के अंतर्गत ही होते हैं। अत: कौटिल्य ने इसके महत्व को स्वीकार किया है यद्यपि उन्होंने विशालाक्ष के उस मत को स्वीकार नहीं किया है कि जनपद का महत्व अमात्यों से अधिक है।

पुर या दुर्ग—जनपद के मध्य पुर (राजधानी) की सत्ता होती थी जिसे दुर्ग के रूप में निर्मित किया जाता था। कोश और सेना प्रधानतया दुर्ग के रूप में ही निवास करती थी। संकट के समय जनपद के निवासी दुर्ग में ही शरण लेते थे। यदि दुर्ग न हो तो कोश पर शत्रु सुगमता से अधिकार कर लेगा। जिनका दुर्ग सुदृढ़ हो उन्हें सुगमता से परास्त नहीं किया जा सकता। कौटिल्य ने कई प्रकार के दुर्गों के निर्माण और आवश्यकतानुसार उनके प्रयोग का विधान किया है—(क)साम्प्रदायिक दुर्ग—युद्ध व देश की रक्षा के लिये सीमाओं पर बने दुर्ग। (ख) औदक दुर्ग नदी या द्वीप के बीच में। (ग) प्रास्तर दुर्ग–ऊँचे टीले पर निर्मित। (घ) धान्वन दुर्ग रेगिस्तान या ऊसरभूमि में निर्मित दुर्ग। (ङ) वनदुर्ग आदि।[2] महाभारत में मही दुर्ग, गिरि; जल दुर्ग तथा वन दुर्ग आदि के महत्व का वर्णन किया गया है।[3] परन्तु इनसे भिन्न कौटिल्य ने पुर-दुर्ग का उल्लेख किया है जिसका निर्माण केवल युद्ध के ही प्रयोजन से नहीं किया जाता यद्यपि उसका भी उपयोग युद्ध के लिये होता है। शुक्रनीतिसार में भी दुर्गों का एवं पुर का विस्तृत वर्णन है।[4]

कोश—कौटिल्य ने कोश के निम्न गुण बताये हैं—[5]

---

१. अर्थ—६-१
२. उपर्युक्त—२-२
३. मह० शांति पर्व—८६-४-५
४. शुक्र०—१-२०८-२२२
५. कौटिल्य अर्थ०—६-१

(क) धर्मपूर्वक अधिगत किया गया हो।

(ख) सुवर्ण, रजत, सोने के सिक्कों, विविध रंग व भारी वजन के रत्नों से परिपूर्ण हो।

(ग) कोश की मात्रा इतनी पर्याप्त हो कि अधिक काल तक संकट में भी उससे सम्पूर्ण जनपद का निर्वाह हो सके।

(६) सेना या बल :—कौटिल्य ने सेना के भी गुणों की ओर संकेत किया है।[1]

(क) सैनिक वंश-परम्परानुगत हों।

(ख) सेना नित्य (स्थायी) हो।

(ग) नियंत्रित हो तथा अपनी वृत्ति से संतुष्ट हो।

(घ) सर्वत्र अपराजित हो कष्ट सहने की क्षमता हो, विविध प्रकार के युद्ध-संचालन में प्रशिक्षित हों।

(ङ) उनमें ऐक्य की भावना हो, उन्हें शत्रु द्वारा फोड़ा न जा सके। सेना में क्षत्रियों की प्रचुरता हो।

बाह्य आक्रमणों से देश की रक्षा सशक्त सेना पर ही निर्भर करती थी अतः सेना राज्य के महत्वपूर्ण अंगों में से एक थी। महाभारत आदि अन्य ग्रन्थों में भी इसके महत्व का विवेचन विस्तार पूर्वक किया गया है।

(७) मित्र :—एक सशक्त राज्य के लिये दूसरे मित्र-राज्य भी आवश्यक हैं। इसी कारण मित्र की गणना भी राज्य के अंग के रूप में की गई है। कौटिल्य ने मित्र राज्य की विशेषतायें बताया है[2]—(क) जिसके साथ पितृ-पैतामह आदि के समय से ही मित्रता का सम्बन्ध हो। (ख) जो स्थायी हो, जिनमें नियंत्रण की शक्ति हो और जिसे अपने विरुद्ध न किया जा सके। (ग) जो आवश्यकता पड़ने पर शीघ्रता से बड़े पैमाने पर युद्ध की तैयारी कर सके।

सप्तांगों का सापेक्षिक महत्व

अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने राज्य के उन सातों अंगों (प्रकृतियों) के महत्व का वर्णन करते हुये अपने से पूर्व के आचार्यों के मत भी उद्धरित किया है। प्राचीन आचार्यों की दृष्टि में स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश, दण्ड और मित्र में क्रमशः स्थायी अमात्य से, अमात्य जनपद से, जनपद दुर्ग से तथा इसी प्रकार सभी क्रम से अपने बाद

१. कौ० अर्थ ६/१
२. ,, ,, ६/१

वाले से अधिक महत्वपूर्ण हैं। भारद्वाज ने इस मत का खंडन इस आधार पर किया कि अमात्य का महत्व स्वामी से भी अधिक है क्योंकि वही राजकार्यों का सचालन करता है; यंत्र की गोपनीयता, फल की प्राप्ति, दंड का प्रयोग' शत्रुओं का निवारण आदि भी वही करता है। परन्तु कौटिल्य ने राजा को ही अधिक महत्वपूर्ण बताते हुये प्राचीन विचारकों के ही दृष्टिकोण की पुष्टि की है। अन्य प्रकृतियाँ भी राजा से ही आदर्श ग्रहण करती हैं। यदि राजा उत्थानशील होगा तो अन्य प्रकृतियाँ भी उत्कर्ष-गामी होंगी, यदि राजा व्यसनी और प्रमादी होगा तो प्रकृतियाँ भी पतनगामी होंगी। स्पष्टत: कौटिल्य की दृष्टि में राजा और राज्य ये दो प्रकृतियाँ ही प्रधान हैं—'राजा राज्यमिति प्रकृति संक्षेपः।' इनकी इस राज्य संज्ञा के अंतर्गत हम राजा के अतिरिक्त शेष ६ प्रकृतियों को सम्मिलित कर सकते हैं।

जिस प्रकार मानव शरीर के कुछ अंग अधिक महत्वपूर्ण होते हैं कुछ अपेक्षाकृत कम महत्व के होते हैं उसी प्रकार राज्य-शरीर के सभी अंगों को समान महत्व का मानना तर्कपूर्ण नहीं है। उदाहरण के लिये दुर्ग एवं मित्र की तुलना में स्वामी एवं अमात्य निश्चित ही अधिक महत्व के हैं। परन्तु अपने-अपने स्थान पर प्रत्येक अंग राज्य शरीर के लिये अनिवार्य था क्योंकि एक अंग का कार्य दूसरे से नहीं लिया जा सकता। हम सिर के बल चल नहीं सकते और न तो पैर से भोजन ही कर सकते हैं। अतः एक अग का अभाव दूसरे से पूर्ण नहीं किया जा सकता। राज्य के समुचित संचालन के लिये सभी अंगों का समन्वित होकर कार्य करना आवश्यक है।[1] इस सम्बन्ध में कौटिल्य का यह दृष्टिकोण भी महत्वपूर्ण है कि किसी एक या दो प्रकृति में सामान्य व्यसन उत्पन्न होने से शेष प्रकृतियों पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता परन्तु यदि व्यसन गम्भीर हुआ तो अन्य प्रकृतियाँ भी उससे प्रभावित होंगी तथा राज्य का समुचित संचालन बाधित होगा। यही बात हम मानव-शरीर में भी पाते हैं। शरीर के किसी अंग में साधारण रोग लग जाने से पूरे शरीर का कार्य करना बन्द नहीं होता परन्तु यदि किसी भी अंग में कोई गम्भीर रोग उत्पन्न हो जाय तो पूरा शरीर उससे कार्य करना बन्द कर सकता है।[2]

डॉ० अल्तेकर ने इस सम्बन्ध में इस तथ्य की ओर भी संकेत किया है कि राज्य शरीर एवं मानव-शरीर की समता पूर्ण नहीं हो सकती। शरीर के विभिन्न पिंड एवं अवयव अलग से जीवित नहीं रह सकते परन्तु राज्य शरीर के कुछ अंग जैसे

---

१. 'परस्परोपकारीदं सप्तांगं राज्यमुच्यते'—कामन्दक, ४/१
२. अर्थशास्त्र ८/१

दुर्ग और कोष अलग भी रह सकते हैं और उनकी सहायता से पृथक राज्य की रचना भी की जा सकती है।[1] बी० जी० गोखले का मत है।

"The state can be considered as an organic whole and all its parts were integrated with each other, thought they perfomed with separate functions."

(Journal of Indian History, 1971, Sl. Nos. 145-147, P. 204)

सप्तांग सिद्धांत आधुनिक दृष्टिकोणों के परिप्रेक्ष्य में—आधुनिक विचारकों की दृष्टि में राज्य के चार प्रमुख तत्व हैं—

(१) प्रभुसत्ता (Sovereignty) (२) सरकार (Government)
(३) भूभाग (Territory) (४) जनता (Population)

प्राचीन भारतीय सप्तांग सिद्धांत के स्वामी, अमात्य तथा जनपद इन तीन तत्वों में उक्त चारों तत्वों का समावेश हो जाता है। स्वामी का तादात्म्य प्रभुसत्ता से अमात्य का सरकार से तथा जनपद का भूभाग एवं जनता से सुगमता पूर्वक स्थापित किया जा सकता है। राज्य के स्वरूप के आधुनिक दृष्टिकोण में सेना,, कोश, पुर तथा मित्र को कोई स्थान नहीं दिया गया है। सम्भवतः सेना और कोश को प्रभुसत्ता के ही अन्तर्गत सीमित कर लिया गया है। परन्तु प्राचीन भारतीय विचारकों ने इनको राज्य के तत्वों में पृथक स्थान देकर राज्य के स्वरूप की अधिक व्यावहारिक व्याख्या की थी। मित्र का महत्व आधुनिक युग में भी सर्वमान्य है। किसी भी राजसत्ता को वास्तविक मान्यता तभी प्राप्त होती है जब उसे दूसरे राज्यों द्वारा भी मान्यता प्राप्त हो। प्राचीन भारतीय सप्तांग सिद्धान्त में जनता को.कोई पृथक स्थान प्राप्त नहीं है। परन्तु जनपद के अन्तर्गत उसका समावेश कर लिया गया है। कौटिल्य ने जनपद का वर्णन करते हुए उसमें भूभाग तथा वहाँ के निवासी दोनों के गुणों की ओर संकेत किया है इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक दृष्टिकोण तथा राज्य के स्वरूप सम्बन्धी प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण में अत्यधिक साम्य है। इतना ही प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण अधिक स्पष्ट तथा व्यावहारिक है। प्रो० भंडारकर के मतानुसार हिन्दू राज्यशास्त्र राज्य के स्वरूप का अधिक पूर्ण तथा गहन विवेचन करता है। उसमें राज्य की आधुनिक परिभाषा का समावेश ही नहीं हो जाता वरन् आधुनिक परिभाषा के जो अभाव हैं उनका भी स्पष्ट ज्ञान हो जाता है।

"Hindu polity not only tries to describe the nature of the stae but does it apparently with some exactitude and thoroughness. They not only fulfill the modern definition of the state but even

-----

१. प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृष्ट ३८ एच. जी. अन्जरिया ने तो स.वैजनिक स्वरूप को माना ही नहीं।

enable us to determine in what respect the definition is perhaps. Some what deficient."

एज आदर्श राज्य की व्याख्या करते हुए आधुनिक विचारकों ने र ज्य में भाषा, धर्म, एवं जाति की एकता पर बहुत बल दिया है। परन्तु भारतीय राज शास्त्रकारों ने इस प्रश्न को उठाया ही नहीं है क्योंकि प्राचीन भारत में अधिकांश राज्य एक दूसरे से जाति, भाषा या धर्म में विभिन्न न थे। सभी राज्यों में हिन्दू बौद्ध एवं जैन आदि शांतिपूर्वक निवास करते थे। संस्कृत सार्वदेशिक भाषा थी तथा प्राकृत में भी इतना भेद नहीं आया था कि वे दुर्बोध हो जाय। विदेशी भी यहाँ आकर शीघ्र ही भारतीय बन जाते थे यथा यूनानी, शक, पल्हव, कुषाण और हूण आदि। ये सभी पूर्ण रूपेण भारतीय बन गये तथा भारतीय धर्म, भाषा आदि को ग्रहण कर लिया। अतः भारत में जाति, भाषा, एवं धर्म की कोई समस्या ही नहीं थी। यहाँ विभिन्नताओं में भी एक मौलिक-एकता थी। फलतः विचारकों ने इस प्रश्न पर विचार ही नहीं किया है।

आधुनिक विचारकों ने भी राज्य को एक सजीव सत्ता माना हैं तथ उसे सावयव कहा है। Prof. Bluntschli ने राज्य को एक निर्जीव यन्त्र या सत्ता न मानकर एक जीवित सत्ता माना है—" The states is not a lifeless instrument, a dead machine but a living organism not of a lower but of a high order"[1] इसी प्रकार अन्य आधुनिक विचारकों ने भी समान दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं। अतः प्राचीन भारतीय विचारकों का यह दृष्टिकोण भी कि राज्य एक सजीव सत्ता है पूर्णतया आधुनिक है।

राज्य का उद्दश्य

(१) समाज में शांति एवं व्यवस्था की स्थापना—समाज राज्य से पूर्व था। समाज में विद्यमान अव्यवस्था एवं अराजकता को दूर करके शांति-व्यवस्था की स्थापना के लिये ही राज्य का उदय हुआ। महाभारत में उस स्थिति का बड़ा ही रोचक वर्णन हैं जो राज्य की स्थापना के पूर्ण समाज में विद्यमान थी—जब दण्ड का अभाव था तो जनता में संकट उत्पन्न हो गया था कार्य और अकार्य भोज्य और अभोज्य पेय तथा अपेय का विवेक नष्ट हो गया था। कौन सी वस्तु अपनी है, कौन दूसरे की है इसका भी भेद नहीं था। गम्य और अगम्य में भी अन्तर नहीं था। लोग हिंसा में तत्पर थे। जिस प्रकार कुत्ते मांस झपटते है उसी प्रकार लोग एक दूसरे पर झपटते थे। बलवान निर्बलों को मारते थे, समाज में मर्यादा नहीं थी।"[2] समाज की

---

१. "The theory of the State'

२. महाशांति पर्व, १२२|१९-२२

इस स्थिति को समाप्त करके उसमें शांति एवं मर्यादा की स्थापना के लिए ही राज्य का उदय हुआ था।

(२) सर्वांगीण भौतिक एवं नैतिक विकास :—प्राचीन भारतीय वाङ्मय में राज्य को धर्म, अर्थ, एवं काम का संवर्धन करने वाला कहा गया है। सोमदेव सूरि ने राज्य को धर्म अर्थ और काम का मूल मानते हुए उसे प्रणाम किया है।[1] यहाँ धर्म से तात्पर्य किसी धार्मिक सम्प्रदाय से नहीं वरन सदाचार और सुनीति से है। अर्थ से तात्पर्य प्रजा के भौतिक विकास से है जिसमें कृषि, उद्योग, वाणिज्य, शिल्प, आदि सभी का विकास सम्मिलित है। काम के अन्तर्गत सुख-पूर्वक जीवन का भोग तथा संगीत, नृत्य, चित्रकला, स्थापत्य, एवं वस्तु आदि का विकास सम्मिलित है। इस प्रकार राज्य का उद्देश्य समाज का भौतिक एवं नैतिक दोनों दृष्टियों से सर्वांगीण विकास था।

(३) समाज की रक्षा :—राज्य का उद्देश्य आंतरिक एवं बाह्य शत्रुओं से समाज की रक्षा करना भी है। इस प्रकार के भाव महाभारत मनुस्मृति एवं शुक्रनीति आदि में आये हैं। इसी उद्देश्य से राज्य सैन्य बल तथा व्यवहार विधि एवं न्यायालय आदि का गठन करता था। समाज के विभिन्न घटकों का अस्तित्व राज्य पर ही निर्भर करता है। समस्त विद्याओं आंवीक्षकी, त्रयी वार्ता एवं दण्डनीति का संरक्षण भी राज्य द्वारा ही होता है। कौटिल्य ने स्पष्टतः दण्ड को ही उनका रक्षक कहा है—"आंवीक्षकीय वार्तानां योगक्षेम साधनों दण्ड।"[2] इस प्रकार राज्य समाज के सम्पूर्ण योग क्षेम के लिए उत्तरदायी था।

राज्य के कार्य :—

कुछ आधुनिक पाश्चात्य विचारकों की दृष्टि में राज्य एक 'अनिवार्य अरिष्ट' है जो नागरिक जीवन में अनुचित हस्तक्षेप करता है। इन विचारकों की दृष्टि में राज्य के केवल वही कार्य उचित हैं जो समाज में शांति एवं सुव्यवस्था बनाये रखने के लिये आवश्यक हों। प्राचीन भारत में इस प्रकार विचारों का अभाव था। महाभारत तथा अर्थशास्त्र आदि ग्रंथों में राज्य का कार्यक्षेत्र मानव जीवन का धार्मिक, आर्थिक एवं सामाजिक समस्त क्रिया कलाप है। उसके कार्य क्षेत्र में मनुष्य जीवन का लौकिक एवं पारलौकिक दोनों पक्ष आ जाता है। अतः प्राचीन भारतीय विचार की दृष्टि में राज्य का कार्य क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत था। मानव जीवन का कोई भी अंग उससे अछूता नहीं था। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि राज्य मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में हस्तक्षेप करके उसकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता का हनन करता था वरन् राज्य का उद्देश्य तो व्यक्तिगत स्वत्वों एवं अधिकारों की रक्षा करना था।

१: "धर्मार्थकामफलाय राज्याय नमः।" नीति वाक्यामृतम, पृ० ७।
२. अर्थशास्त्र, १/४/४

सालेटार महोदय ने इस दृष्टि से प्राचीन भारतीय राज्य की समता आधुनिक राज्य से की है—

"In this respect the ancient state anticipated in some measure an aspect of the modern state which acts as a great ministry of social assurance, assures the whole society of the maximum good and maintain the individuality and privileges of the subjects who comprise it."[१]

प्राचीन भारतीय राज्य के कार्यों का विवेचन हम उसे निम्न प्रकार से वर्गीकृत करके सुगमतापूर्वक कर सकते हैं—(१) सामाजिक (२) आर्थिक (३) धार्मिक (४) न्यायिक (५) प्रशासनिक (६) प्रजाहित।

(१) सामाजिक :

(क) स्वधर्म की रक्षा :—भारतीय विचार-सारणी में मानव समाज को चार वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र में विभक्त किया। ब्राह्मण का स्वधर्म अध्ययन-अध्यापन, यज्ञ करना और कराना, दान लेना एवं देना है। क्षत्रिय का स्वधर्म शस्त्र धारण करना, प्राणियों की रक्षा करना, अध्ययन करना, दान देना एवं यज्ञ करना है। वैश्य का स्वधर्म कृषि, वाणिज्य व पशुपालन द्वारा धन उपार्जित करना, अध्ययन, यज्ञ करना तथा दान देना है। शूद्र का स्वधर्म द्विजातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) की सेवा करना तथा वार्ता (कृषि पशुपालन व वाणिज्य) एवं शिल्प आदि से धन का अर्जन है। इसी प्रकार मानव जीवन को भी चार आश्रमों से विभक्त किया गया है ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास। ब्रह्मचारी का स्वधर्म है—स्वाध्याय, अग्नि का आधान कर उसमें आहुति देना तथा भिक्षा द्वारा निर्वाह। गृहस्थ का स्वधर्म है – आजीविका कमाना, पत्नी के साथ दाम्पत्य जीवन व्यतीत करना, देव, पितर, अतिथि और भृत्य का पोषण तथा जो शेष बचे उसका भोग। वानप्रस्थी का स्वधर्म है ब्रह्मचर्य का पालन, जमीन पर सोना, जटा एवं मृगचर्म धारण करना, यज्ञ करना देवता पितर तथा अतिथियों की पूजा करना। संन्यासी का स्वधर्म है इंद्रियों को संयत रखना, धन सम्पत्ति न रखना, दूसरों के संग का त्याग, भिक्षा-यापन जंगल में निवास तथा बाह्य एवं आभ्यन्तर पवित्रता। स्वधर्म का यह विवरण कौटिलीय अर्थशास्त्र पर आधारित है। राज्य का कर्त्तव्य था इस स्वधर्म का पालन करना क्योंकि समाज व राज्य की उन्नति इसी पर निर्भर है।

"जो राजा स्वधर्म को कायम रखता है वह इहलोक और परलोक में प्रशंसा प्राप्त करता है......"[२]

---

१. B A. Saletore, "Ancient Indian Political thought and Institutions" पृ० ८४

२. अर्थशास्त्र २/३

(ख) दोषों से समाज की रक्षा :—डॉ० अल्तेकर ने राज्य के कार्यों की व्याख्या करते हुये राज्य द्वारा समाज में अनीति न फैलने देने के लिए ऐसे अधिकारियों की नियुक्ति की ओर संकेत किया है जो मदिरालय, जूआघरों तथा गणिकाओं की देख-रेख करते थे। अतः राज्य का कर्तव्य था समाज की दोषों से रक्षा करना। इन अधिकारियों का वर्णन कौटिलीय अर्थशास्त्र तथा अन्य ग्रन्थों में भी आया है।

(ग) बाह्य शत्रुओं से समाज की रक्षा :—राज्य की उत्पत्ति या उसकी स्थापना के पीछे ही रक्षा का भाव सन्नद्ध था अतः राज्य का प्रमुख कर्तव्य था बाह्य शत्रुओं से समाज की रक्षा करना। इस दृष्टि से राज्य सैन्य बल की व्यवस्था करता था और उससे समाज की रक्षा करता था।

(घ) शिक्षा व्यवस्था का समुचित सम्पादन :—समाज का बौद्धिक विकास भी राज्य के प्रमुख कर्त्तव्यों में से एक था। इस दृष्टि से प्राचीन भारत में 'अग्रहार-ग्रामों' की व्यवस्था थी जिनकी आय से आचार्य शिक्षा कार्य सम्पादित करते थे। इस बात के हमें अनेकों साहित्यिक एवं अभिलेखीय प्रमाण प्राप्त हैं कि राजाओं ने शिक्षण-संस्थाओं के निर्माण एवं संचालन में योग दिया। नालन्दा विश्वविद्यालय के संचालन में गुप्त राजाओं तथा हर्ष द्वारा किये गये सहायता कार्य ऐतिहासिक स्रोतों से ज्ञात है। इस प्रकार शिक्षा संस्थाओं की सहायता द्वारा राज्य ज्ञान-विज्ञान और कला का सम्वर्धन करता था।

(ङ) आकस्मिक संकटों में समाज की रक्षा एवं उसकी सहायता :—बाढ़, टिड्डीदल, अकाल, भूकम्प, महामारी आदि प्राकृतिक आकस्मिक संकटों से भी समाज की रक्षा करना राज्य का कर्त्तव्य था। इन संकटों के समय राज्य प्रजा की हर-सम्भव सहायता करता था।

(२) आर्थिक :—

(क) कर संचय :—राज्य का कर्तव्य था प्रजा से कर-संचय करके उससे समाज की रक्षा तथा उसका विकास करना। मनु ने स्पष्ट निर्देश दिया है कि एक राजा जो प्रजा की आय का छठवां हिस्सा कर के रूप में ग्रहण करता है परन्तु प्रजा की रक्षा करने में समर्थ नहीं है, वह शीघ्र ही नरकगामी होगा।[1]

(ख) आर्थिक विकास :—राज्य का कार्य था नई बस्तियां बसाना; देश की प्राकृतिक सम्पत्ति का विकास करना, आर्थिक विकास के लिये जंगलों, खानों आदि का उपयोग करना वर्षा की कमी पूरी करने के लिये नहरें, बांध आदि निर्मित

१. मनुस्मृति ८, पृ० ३०७

करवाना, उद्योग एवं व्यवसाय आदि को प्रोत्साहन देना तथा व्यापारियों की अनुचित और अवास्तव लाभलिप्सा से समाज की रक्षा करना।[1]

(३) धार्मिक :—

राज्य का कार्य था विभिन्न धर्म-संस्थाओं को आर्थिक सहायता देना तथा उनके विकास के लिये समान अवसर प्रदान करना। सत्य, धर्म और सदाचार को पूर्ण प्रश्रय देना भी राज्य का कार्य था। इस दृष्टि से राज्य अधिकारियों की नियुक्ति करता था। प्राचीन भारतीय शासन-व्यवस्था में पुरोहितों का महत्व इस बात को पुष्टि कर देता है कि धर्म और उसका विकास राज्य का एक प्रमुख कार्य था। इस बात के अनेकों ऐतिहासिक उदाहरण उपलब्ध हैं जब मौर्य, शुंग, सातवाहन, चेदि, कुषाण, गुप्त, पुष्यभूति आदि वंशों के सम्राटों ने धार्मिक उत्थान के लिये राज्य द्वारा अधिकारियों की नियुक्ति, मठों एवं बिहारों का निर्माण, मन्दिरों-स्तूपों का निर्माण किया है तथा विभिन्न प्रकार से विभिन्न धर्मों को प्रोत्साहन दिया है। राजा को वरुण के समान धर्म के समग्र अंश का रक्षक कहा गया है।[2]

(४) न्यायिक : —

समाज से अराजकता एवं अव्यवस्था की समाप्ति के लिये राज्य का उदय ही हुआ था फलतः राज्य का एक प्रमुख कार्य था समाज में सबको समान आधार पर न्याय प्रदान करना। इस दृष्टि से व्यवहार, विधि, न्यायालय तथा सदाचार की रक्षा राज्य का मुख्य कार्य था। उसका मुख्य उद्देश्य था न्यायपालिका के उचित संगठन से राज्य के कल्याणकारी रूप का विकास करना। कौटिल्य ने धर्मस्थीय एवं कण्टक-शोधन दो प्रकार के न्यायालयों का उल्लेख किया है।

त्रिवर्ग की प्राप्ति विधि-पालन से ही सम्भव थी। उसके बिना धर्म भी उसी प्रकार हो जाता है जिस प्रकार जहाज के डूबने पर समुद्र में यात्रियों का।[3] इस प्रकार राज्य भी विधि के ऊपर न था वरन् उसका उद्देश्य विधि पालन ही माना गया।

(५) प्रशासनिक :—

शासन-व्यवस्था के समुचित संचालन के लिये विभिन्न विभागों का संयोजन करना उनके अध्यक्षों तथा सह-अधिकारियों की नियुक्ति करना तथा उनके कार्यों की देखरेख करना भी राज्य का प्रमुख कार्य था। कौटिल्य ने आमात्यों की नियुक्ति के सम्बन्ध में कई अपराधों का उल्लेख किया तथा धर्मोपधाशुद्ध, अर्थोपधाशुद्ध, कामोपधाशुद्धा तथा भयपधाशुद्ध अमात्यों की नियुक्ति का निर्देश दिया है। सैन्य विभाग, न्याय-विभाग, आय-व्यय विभाग आदि का नियमन एवं नियंत्रण राज्य के प्रशासनिक कार्यों की श्रेणी में आता है।

---

१. डा० अ० स० अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० ५
२. ऋग्वेद, ४/४/३
३. महा०, शा०, ५७/४३-४४

(६) प्रजाहित

मौर्य-युग तक आते-आते प्राचीन भारतीय राजसत्ता ने एक पूर्ण कल्याणकारी राज्य का रूप धारणा कर लिया था। इनका सर्वोत्तम प्रमाण कौटिल्य के इस वाक्य में निहित है कि प्रजा के सुख में ही राजा का सुख है, प्रजा के हित में ही राजा का हित-साधन है राजा का अपना कोई व्यक्तिगत हित है ही नहीं, प्रजा का हित ही उनका हित है।

'प्रजा सुखे सुखं राज्ञः प्रजानां हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियम् हितम् ॥[1]

इस दृष्टि से राज्य दीनों, अनाथों, अपाहिजों की सहायता करता था, प्रजा के सुख के लिये धर्मशालाओं राजमार्गों, चिकित्सालयों आदि का निर्माण कराता था, आकस्मिक संकटों के समय प्रजा की सहायता करता था। वह प्रजा को पुत्रवत् मानता था और उसके लौकिक तथा पारलौकिक उत्थान के लिए मार्ग प्रस्तुत करता था - अशोक के अभिलेखों में प्रकट हुए उद्गार इसके सर्वश्रेष्ठ प्रमाण हैं।

क्या प्राचीन भारतीय राज्य धर्म-शासित (Theocratic) था ?

एक धर्म शासित राज्य में धर्म गुरु या पुरोहित की सत्ता प्रधान होती है, वही राज्य का वास्तविक शासक होता हैं उदाहरणार्थ इस्लामी इतिहास में खलीफा या आधुनिक वैटिकन राज्य में पोप। राजा धर्मगुरु के आदेश का पालन करने को बाध्य होता है, उसकी स्थिति मात्र कठपुतली के समान होती है जो धर्मगुरू के संकेतों पर चलता है। आठवीं, नवीं तथा सम्पूर्ण मध्यकालीन यूरोपीय इतिहास में पोप की यही स्थिति थी। यह राजाओं को दंडित करने का भी दावा करता था। उसकी घोषणा थी कि पोप कभी कोई भी कार्य अनुचित नहीं करता फलतः उसके आदेश सम्राट के आदेशों से भी अधिक प्रभावी थे।

प्राचीन भारतीय वाङ्मय में भी कुछ ऐसे सन्दर्भ हैं जिनमें ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ राजसत्ता पर धर्म का पूर्ण प्रभाव था, यथा :—

(१) गौतम धर्मसूत्र—राजा का शासन ब्राह्मण वर्ण पर नहीं चल सकता तथा ब्राह्मण वर्ण की सहायता के बिना राजा का अभ्युदय नहीं हो सकता[2]

(२) ऐतरेय ब्राह्मण :—योग्य ब्राह्मण पुरोहित की सहायता के अभाव में देवता राजा का हवन स्वीकार नहीं करेंगे।[3]

---

१. अर्थशास्त्र १।१९
२. गौ धर्मसूत्र, १।११
३. ऐ० ब्राह्मण, ७५-२४

(३) ऐतरेय ब्राह्मण—राज्याभिषेक के समय राजा का तीन चार ब्राह्मण को नमस्कार करना तथा उसका वशवर्ती स्वीकार करना।[१]

(४) ऋग्वेद :—पुरोहित का सम्मान करके राजा अपने शत्रुओं पर विजय तथा प्रजा की निष्ठा प्राप्त करता है।[२]

उपर्युक्त उद्धरणों से प्रतीत होता है कि ब्राह्मण-काल में (१००० ई० पू० तक) ब्राह्मण पुरोहित राज्य पर अपना अधिकार जमाने की चेष्टा कर रहे थे। फलतः ब्राह्मण साहित्य में यही भाव प्रकट किया गया राज्य ब्राह्मण और धर्म के प्रभाव बिना नहीं चल सकता। पुरोहित राजा का अनिष्ट या इष्ट कर सकता है। ब्राह्मण कर प्रदान करने से मुक्त है। उसे शारीरिक दंड नहीं दिया जा सकता। परन्तु ब्राह्मण वर्ण का प्रयास पूर्ण सफल न हो सका। स्वतः ब्राह्मण-साहित्य ही इसका प्रमाण है।

(१) तैत्तिरीय ब्राह्मण—राजा जो चाहता है, ब्राह्मण को वही करना पड़ता है.[३]

(२) ऐतरेय ब्राह्मण—राजा जब चाहे ब्राह्मण को निष्कासित कर सकता है।[४]

(३) बृहदारण्यक उपनिषद्—समाज में सबसे ऊँचा पद क्षत्रिय या राजा का है, ब्राह्मण उसके नीचे बैठता है। राजकुमारी शर्मिष्ठा पुरोहित-कन्या देवयानी से कहती है—"तुम्हारे पिता का काम माँगना और बिनती करना है, मेरे पिता का काम देना और बिनती सुनना है।"

उक्त उद्धरणों से यह संकेत अवश्य मिलता है कि ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों में प्रधानता के लिये संघर्ष था परन्तु प्राचीन भारत में शासन-सूत्र पुरोहित के हाथ रहा हो और राजा मात्र कठपुतली रहा हो—ऐसी स्थिति कभी भी नहीं थी। पुरोहित या ब्राह्मण का समाज में प्रभाव अवश्य था उसे उसकी बौद्धिक उपलब्धियों के लिए कुछ विशेषाधिकार भी प्राप्त थे जैसे कर मुक्ति या शारीरिक दंड से मुक्ति आदि।

प्राचीन भारत में राजा के देवत्व की मान्यता भी थी परन्तु वह ईश्वर का एक मात्र प्रतिनिधि नहीं था और न तो पोप की भाँति दोनों से रहित ही मान लिया

---

१. उपर्युक्त ८-१
२. ऋग्वेद ४, ५०, ७, ६
३. तैत्तिरीय ब्राह्मण ३, ६, १४
४, ऐ० ब्रा० ७-२६
५. बृ० उप० १-७२, ६-१०

गया था। राजा भी दंड के अधीन था और उसे शासन संचालन में सामाजिक-परम्पराओं का अनुगमन करना पड़ता था। चौथी सदी ईसा पूर्व से तो राज्य पर धर्मतंत्र का प्रभाव धीरे-धीरे और भी कम होता गया। यान्त्रिक कर्मों की प्रतिष्ठा कम होती गयी और पुरोहित का प्रभाव भी कम होता गया। राजा धर्म का रक्षक एवं पालक अवश्य था परन्तु किसी सम्प्रदाय विशेष के हाथ की कठपुतली वह कभी भी नहीं रहा. यद्यपि यह कहा जा सकता है कि हमारी कुछ राजनीतिक मान्यतायें हमारी धार्मिक मान्यताओं के ही फलस्वरूप अस्तित्व में आई थीं।

इसमें संदेह का कोई स्थान नहीं है कि भारतीय दार्शनिक एवं धार्मिक मान्यताओं ने हमारी राजसत्ता को प्रेरित किया है। डॉ० अल्तेकर ने उन चिंतन धाराओं की ओर विस्तार से संकेत किया है जिन्होंने प्राचीन भारतीय राज-सत्ता को अनुप्रेरित किया था।[1]

(१) कर्म का सिद्धान्त :—इस सिद्धान्त के अनुसार एक व्यक्ति अपने पाप-पुण्य दूसरे को दे सकता है। अतः राजशास्त्रकारों ने यह माना कि ब्राह्मण अपने तपस्या फल का कुछ अंश राजा को देकर मुक्त हो सकते हैं। इसी सिद्धान्त का परिणाम यह मान्यता भी थी कि राजा को भी अपने पाप कर्मों के लिए नरक की यातना भुगतनी पड़ेगी।

(२) धर्म की सर्वोपरिता :—हमारी चिंतनधारा में धर्म को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त था। फलतः राज्य को धर्म व मोक्ष के भी साधनों को विकसित करना पड़ता था, उसे धर्मयुद्ध के नियमों का पालन करना पड़ता था तथा यह अपेक्षा की जाती थी कि राज्य में पापी, अपराधी या व्यभिचारी न होंगे।

(४) सदाचार :—गीता के दसवें अध्याय में सद्गुणों में इश्वर का निवास कहा गया है तथा राजा को दैवी कहा गया है। इसका कारण राजा में दैवी गुण मान कर उसे देवों का अंश माना जाने लगा।

(४) अवतारवाद :—राजा को विष्णु का अवतार भी मानने की अवधारणा अवतारवाद के विकास के साथ-साथ विकसित हुई।

(५) अप्रतिग्रह :—जो सब कुछ त्याग कर समाज को निःशुल्क शिक्षा दान कर रहे हैं, उनसे कर न लिया जाय तथा राजा को भी अपने सुख के लिए चिन्तित नहीं रहना चाहिए आदि मान्यतायें अप्रतिग्रह के सिद्धान्त का परिणाम थीं।

यह भी स्पष्ट है कि धार्मिक सिद्धान्तों का राजसत्ता पर यह प्रभाव इस स्तर का नहीं था कि राज्य-तंत्र बनकर रह जाय जैसा कि मध्यकालीन यूरोप में इस्लामी खिलाफत में हुआ। प्राचीन भारतीय शासन पद्धति कभी-कभी विशेष रूप से धार्मिक से प्रभावित नहीं हुई, न तो मौलिक विचारों में, न राजनीतिक अचारों में।[2]

---

१. डॉ० अ० स० अल्केतर, प्रा० भा० शा० पद्धति पृ० ४७-४८

२. उपर्युक्त पृ० ४८]

अध्याय ४

राजतंत्र

प्राचीन भारत की सर्वाधिक प्रचलित शासन-प्रणाली राजतंत्र या नृपतन्त्र थी जिसमें शासन सूत्र का संचालन मंत्रि-परिषद् के परामर्शानुसार किसी एक व्यक्ति द्वारा होता था। इस शासन कर्त्ता को ही राजा, राजन, सम्राट्, सरकार आदि संज्ञाओं से पुकारा जाता था। डॉ० काशी प्रसाद जायसवाल ने 'राजन्' शब्द का विवेचन करते हुए उसे संस्कृत धातु 'राट' से उत्पन्न माना है जिसका अर्थ होता है शासक। उन्होंने इस शब्द का सम्बन्ध लैटिन भाषा के शब्द Rex से भी स्थापित किया है। डॉ० जायसवाल ने इस शब्द की उस व्याख्या की ओर भी संकेत किया है जो हिन्दू राजनीति के विशारदों द्वारा दी ग.ी है। इस व्याख्या के अनुसार शासक को राजा इसलिए कहते हैं कि वह अपने अच्छे कार्यों द्वारा प्रजा का रंजन करता है (उन्हें प्रसन्न करता है)। समस्त संस्कृत साहित्य में राजा शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है। राजाओं ने भी इस अर्थ को ग्रहण कर लिया था। कलिंग के सम्राट खारवेल के हाथी गुम्फा शिलालेख में कहा गया है कि अपनी ३५ लाख प्रजा का रंजन करता हूं। बौद्ध ग्रंथों में भी राजन् शब्द की यही दार्शनिक व्याख्या उपलब्ध है। यह राजशासन सम्बन्धी एक राष्ट्रीय व्याख्या और राष्ट्रीय सिद्धांत था।[1]

राजतंत्र का उदय—प्राचीन भारतीय वांगमय में इस सम्बन्ध में अनेक सिद्धांत विद्यमान है जिसका विस्तृत विवेचन राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पीछे किया जा चुका है। यहाँ संक्षेप में इन सिद्धांतों की ओर संकेत मात्र किया जा रहा है :—

(१) **युद्धगत आवश्यकताओं से राजतंत्र का जन्म** :—वैदिक साहित्य में उससे सम्बन्धित उल्लेख विद्यमान हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि देवों और असुरों में युद्ध हो रहा था। देव बार-बार पराजित हो रहे थे। विचार करके उन्होंने अपनी असफलता का कारण यह पाया कि उनका कोई नेतृत्व करने वाला नहीं है। उन लोगों ने निश्चय किया कि एक राजा निर्वाचित करना चाहिये। सभी सहमत

१. डॉ० काशी प्रसाद जायसवाल, हिन्दू राज्यतंत्र भाग २, पृ० १-२

हुये । उन लोगों ने सोम को अपना राजा बनाया और असुरों पर विजय प्राप्त की ।[1] तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है कि देवों में श्रेष्ठ यशस्वी और शक्तिशाली होने के कारण इन्द्र देवों के राजा बन गये ।[2] इन उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि युद्धगत आवश्यकताओं से प्रेरित होकर साहस, शौर्य, रण-कौशल से पूर्ण कोई व्यक्ति राजा बनाया गया होगा । अपने गुणों से उसने उत्तरोत्तर अपनी शक्ति का विकास करके उसने जीवन-पर्यन्त स्थायी रूप से इस पद को प्राप्त कर लिया होगा । यदि उसके पुत्र भी योग्य हुए तो पद आनुवंशिक हुआ होगा ।

(२) सामाजिक समझौते का सिद्धांत :—जब समाज में धर्म शास्त्र का समुचित पालन करना छोड़ दिया गया, अशांति और अव्यवस्था का राज्य हुआ तो कुछ निश्चित शर्तों या पणों पर प्रथम राजा निर्वाचित हुआ । राज्याभिषेक के समय पाठ किये जाने वाले वैदिक मंत्रों, महाभारत, अर्थशास्त्र तथा अन्य परवर्ती ग्रथों में आये हुए अनेक उद्धरणों से इस सिद्धांत की पुष्टि होती है ।

(३) पैतृक संयुक्त-कुटुम्ब पद्धति के राजतंत्र का उदय—डा० अ० स० अल्तेकर ने पितृ-प्रधान संयुक्त-कुटुम्ब प्रणाली से राजतंत्र का उदय माना है । साहस रण-कौशल तथा शौर्य आदि के आधार पर सर्वश्रेष्ठ कुलपति विशपति बनता था तथा विश्पतियों में सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति जनप्रति या राजा बनता था । उसकी योग्यता की जाँच रथदौड़ से की जाती रही होगी । इसी रथ-दौड़ की स्मृति राज्याभिषेक के समय किये जाने वाले वाजपेय यज्ञ में भी विद्यमान है जिसके रण-दौड़ का एक अनुष्ठान सम्पन्न होता था जिसमें राजा ही प्रथम आता था ।[3]

इस बात की भी सम्भावना की जा सकती है पुरोहित के पद से ही शक्ति-संचय करके किसी ने सर्वप्रथम राजपद धारण किया हो अथवा किसी असाधारण गुण जैसे चिकित्सा कौशल आदि के बल पर किसी ने राजपद प्राप्त किया हो । परन्तु वैदिक वांगमय में इन दोनों सम्भावनाओं को कोई स्थान प्राप्त नहीं है ।[4]

(४) दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त—मनु के अनुसार "संसार की रक्षा के लिये प्रभु ने ईश्वर की सृष्टि की । ईश्वर ने राजा का निर्माण इन्द्र अग्नि, यम सूर्य वायु, वरुण, चंद्र और कुबेर से अंश लेकर किया ।"[5] मत्स्य पुराण में भी वह सिद्धांत प्रतिपादित है । महाभारत में भी इसके संकेत विद्यमान हैं । अर्थशास्त्र में भी

१. ऐ० ब्रा०—१-१४
२. तै० ब्रा०—२. २. ७. २
३. अ० स० अल्तेकर, प्रा० भा० शासन पद्धति, पृ०—६४
४. उपर्युक्त, पृ० ६४
५. मनु—७/४-६

परोक्षतः इसके संकेत विद्यमान हैं यद्यपि सालेटोर महोदय इस मत के हैं कि कौटिल्य ने राजा के देवत्व का उल्लेख कहीं भी नहीं किया है और न तो वे इस सिद्धान्त के पक्षपाती ही थे।[1]

राज्याभिषेक (Coronation)

ब्राह्मण ग्रंथों में राज्याभिषेक को 'राजसूत्र यज्ञ' कहा गया है और उससे सम्बन्धित अनुष्ठानों की एक लम्बी तालिका थी जो डा० आर० एल० मित्र के अनुसार लगभग बारह मास तक चलती रहती थी। डा० एन० एन० ला के अनुसार राजसूय से सम्बन्धित सभी अनुष्ठानों के पूर्ण होने में दो वर्ष तीन मास लगते थे।[2] राजा के लिये राजसूय की अनिवार्यता शतपथ ब्राह्मण के इस कथन से स्पष्ट है कि "राजा के लिये ही राजसूय है। रायसूय यज्ञ करने से ही वह राजा बनता है।"

'राज्ञ एवं राजसूय राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति।"[3]

अनुष्ठान :—इस यज्ञ की प्रारम्भ फल्गुन मास के शुल्क पक्ष के प्रथम दिन से होती थी। इन अनुष्ठानों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—(१) अभिषेक के पूर्व के अनुष्ठान (२) अभिषेक के समान अनुष्ठान (३) अभिषेक के बाद अनुष्ठान।

(१) अभिषेक के पूर्व के अनुष्ठान—

(१) अग्निष्ठोम यज्ञ—राजसूय की प्रारम्भ विशुद्धीकरण करने वाले अग्निष्ठोम यज्ञ से होती थी जो पाँच दिन में पूर्ण होता था। तदनन्तर कुछ अन्य धार्मिक कर्मकाण्ड पूर्ण होते थे जिनमें विभिन्न देवों को हवियाँ प्रदान की जाती थीं।

(२) रत्नियों को हवि प्रदान करना—इस अनुष्ठान का वैधानिक महत्व था। ये रत्निन 'राजानः राजकृतः' होते थे जो राजा को राजपद के प्रमाण स्वरूप पर्णमणि प्रदान किया करते थे। इनकी संख्या बारह थी—(१) सेनानी (२) पुरोहित (३) अभिषिक्त होने वाला राजा (४) राजमहिषी (५) सूत (६) ग्रामीण (७) क्षत्रिय या क्षता (८) संगृहीता ९ भागदुघ (१०) अक्षवाप (११) गोविकर्ता (१२) पालागल। सूत से तात्पर्य राजा और राज्य विषयक इतिवृत्त का संकलन करने वालों से है। ग्रामणी ग्राम का मुख्य था। क्षत्ता सैनिक कार्य में निपुणता प्राप्त करने

---

१. सालेटोर, Ancient Ind. Pol. Thought and Institutions. पृ० २९९-३००

२. N N Law, Some Aspects of Ancient, Indian Polity. पृ० १६७

३. शतपथ ५/१/१।१।१२

वाला वर्ग था। संगृहीता राजकोष का नियन्ता था। भागदुध् राजकर वसूल करने वाला प्रधान अधिकारी था। अक्षवाद आय-व्यय का हिसाब रखने वाला अधिकारी था। गोविकर्ता जंगलों का अधिकारी था। पालागल राजकीय संदेशों का वाहक था। ये रत्निन एक तरफ तो उच्च वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे दूसरी ओर इनमें सर्व साधारण का भी प्रतिनिधित्व था। राजा इनके घर जाता था तथा इन्हे हवियाँ प्रदान करता था। 'हवि' के रूप में सेनानी को हिरण्य (स्वर्ण), पुरोहित को गौ, राजमहिषी को भी गौ, क्षत्ता को बैल, भागदुघ् को काली गौ, संगृहीता को दो गौ, अक्षावाप को भी गौ, गोविकर्ता को भी गौ, पालागल को लाल पगड़ी तथा धनुष-बाण प्रदान किया जाता था।

हवि प्रदान करते समय उनसे कहा जाता था—

"हम तुम्हारे लिए ही अभिषिक्त होते हैं और तुम्हें अपना अनुगामी बनाते हैं।"[1]

इस अनुष्ठान का वैधानिक महत्व इस बात में निहित था कि राजा को अभिषिक्त होने से पहले राष्ट्र की विविध अंगों की अनुमति प्राप्त कर उन्हें अपना अनुगामी बना लेना चाहिए

(३) देवों को बलि प्रदान करना :—राजा दैवी गुणों की प्राप्ति के लिए विविध देवों को बलि प्रदान करता था। सत्य की प्राप्ति के लिए सविता को गार्हपत्य गुणों के लिए अग्नि को, वनस्पतियों की वृद्धि के लिए सोम को, वाकशक्ति के लिए वृहस्पति को, सबसे श्रेष्ठ होने के लिए इन्द्र को, गोधन की रक्षा के लिए पशुपति रुद्र को, सत्य के लिए मित्र का तथा धर्मपति बनने के लिए वह वरुण को बलि प्रदान करता था। यह बलि यव तथा ब्रीहि आदि अन्नों से ही तैयार की जाती थी।

अभिषेक के समय के अनुष्ठान—

(१) अभिषेचन :—तदनन्तर भारत की प्रसिद्ध पवित्र नदियों के जल, जलाशयों, कुओं, समुद्र व वर्षा के जल से राजा का अभिषेक होता था। अभिषेक के लिए दूध घी आदि अन्य द्रवों का भी प्रयोग होता था। इसमें कुल सोलह प्रकार के जल व द्रव मिश्रित रहते थे। राजा कहता था "मैं जन का भरण करने वाला हो सकूँ इसलिए राष्ट्र को देने वाले जलो, मुझे राष्ट्र प्रदान करो।" इस पर "यह जन का धारण करने वाला हो सके अतः राष्ट्र को देने वाले जल इसे राष्ट्र प्रदान करें" कहते हुए राजा का अभिषेक किया जाता था।[2]

१. शतपथ, ५।३।१।१
२. शतपथ, ५/३/४/१९

इन अनुष्ठान का भी वैधानिक महत्व था। देश की विविध नदियों एवं जलाशयों से जल ग्रहण करना इस देश की सांस्कृतिक-एकता का प्रतीक। कुओं तथा वर्षा का जल लेने में भारत भूमि के प्रति भक्ति भाव की सूचना मिलती है।

अभिषेक पहले प्रजा जनों द्वारा, तत्पश्चात क्रमशः, ब्राह्मण स्व (राजकुल का कोई व्यक्ति) राजन्य और वैश्य द्वारा होता था। अभिषेक करने वालों में शूद्रों का परिगणन नहीं है।

(२) वस्त्र व धनुष-बाण प्रदान किया जाना :—अभिषेक के बाद राजा वस्त्र और उष्णीष (पगड़ी) धारण करता था। उसे तीन बाण प्रदान किये जाते थे। जो क्षात्र धर्म के प्रतीक थे। तीन बाण प्रदान करने से तात्पर्य पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश इन तीन लोकों की रक्षा से था।

(३) घोषणा :—उक्त अनुष्ठान के सम्पादन के बाद अभिषेक पूर्ण होने की घोषणा अग्नि इन्द्र, मित्रावरुण. पूषा, अदिति और पृथ्वी आदि देवों को सम्बोधित करके की जाती थी।

(४) शपथ :—अभिषेक के बाद राजा निम्न शपथ बड़ी श्रद्धापूर्वक ग्रहण करता था—"जिस रात्रि में मेरा जन्म हुआ और जिसमें मेरी मृत्यु होगी, उसके बीच में जो भी शुभ कर्म मैंने किये हों वे सब नष्ट हो जायें, मैंने अपने सभी सुकृतों, आयु और पूजा से बंचित हो जाऊँ, यदि मैं किसी भी प्रकार से आपके विरुद्ध द्रोह करू।"[1]

यही शपथ राजा, महाराजा, अधिपति, सम्राट, सामन्त व सार्वभौम सभी प्रकार के शासकों के लिए थी। इस शपथ से राजा को सदैव अपने कर्त्तव्यों तथा स्थिति का स्मरण रहता था।

आरोहण—तत्पश्चात राजा चारों दिशाओं में घूमकर आशीर्वाद प्राप्त करता था। पूर्व से उसे ब्रह्म द्रविण, दक्षिण से क्षत्र-द्रविण, पश्चिम से विड्द्रविण तथा उत्तर से फल-द्रविण (शूद्रविण) की रक्षा का आशीर्वाद प्राप्त होता था।

(६) सौ छिद्रों वाले सुवर्ण पात्र से अभिषेक :—इस पात्र के सौ छिद्र सौ वर्ष की आयु के प्रतीक थे। इस यजुर्वेद के कतिपय मन्त्रों का पाठ किया जाता था।

(७) आसन्दी ग्रहण :—तत्पश्चात राजा को उदुम्बर (गूलर) की लकड़ी से बनी आसन्दी पर बैठाकर यजुर्वेद के एक मन्त्र के अनुसार कुछ वाक्य कहे जाते थे—"तू इस पद पर ध्रुव है, तू इस पद को धारण करने वाला है। तुझे यह राज्य कृषि

१. ऐतरेय ब्रा०, ८/१५

के लिये, धन समृद्धि के लिये, पोषण के लिये और सब प्रकार की सुख-सम्पन्नता के लिये किया जाता है।"[1]

(३) अभिषेक के बाद अनुष्ठान—

(१) दण्ड प्रहारः—तदन्तर राजा आसन्दी से उतरता था—सूअर के चमड़े से बने जूते धारण करता था। चार घोड़ों के रथ पर चढ़ कर कुछ दूर जाता था। लौटने पर पुनः उसे आसन्दी पर बिठा कर कहा जाता था—"अब तू धृतव्रत है" (जिसने व्रत को धारणा कर लिया है।)[2] यह कह कर राजा की पीठ पर तीन बार दण्ड से प्रहार किया जाता था जिसका उद्देश्य था राजा को, दण्ड की अधीनता का स्मरण कराना। शतपथ ब्राह्मण में इसकी व्याख्या करते हुये कहा गया है कि राजा अब दण्ड वध (मृत्यु दण्ड) के ऊपर उठ गया है।

(२) स्फ्य (तलवार) प्रदान करना :—तत्पश्चात् जनता के विविध वर्ग राजा को तलवार प्रदान करते थे। क्रमशः ब्राह्मण, राजभ्राता, सूत, ग्रामणी तथा अन्य सजात लोग तलवार प्रदान करते थे। इस अनुष्ठान का उद्देश्य विभिन्न वर्गों द्वारा राजा के प्रति भक्ति प्रकट करना था। सबके सहयोग से राजा को शक्ति मिलती थी।

उक्त विवरण शतपथ ब्राह्मण के आधार पर है। इन ब्राह्मणों में वर्णित केवल प्रमुख अनुष्ठानों का ही यहाँ उल्लेख किया गया है। कालान्तर में इनमें किंचित परिवर्तन भी हुआ। महाभारत में शूद्र को भी अभिषेक विधि में स्थान दिया गया है। पौराणिक काल में वाजपेय यज्ञ रथ दौड़ तथा रत्नि-हवि लुप्त हो गये। राजा की सत्ता व अधिकार बढ़ने द्रोह न करने की शपथ भी समाप्त हो गई। राज्याभिषेक के अवसर पर पुराणों में निहित अनेक प्रकार के दान की प्रथा प्रारम्भ हुई। राष्ट्रकूट वंशीय शासक इन्द्र ने अभिषेक के समय ४०० ग्राम ब्राह्मणों को दान दिये। विजय नगर के कृष्णादेव राय ने सोना, चाँदी, मोती आदि से अपने को तौल कर दान दिया।[3] रत्निन का स्थान मन्त्रियों ने ले लिया।

राज्याभिषेक की विधियों का महत्व।—डॉ० काशी प्रसाद जायसवाल ने उन भावों का विस्तार से उल्लेख किया है जिनकी सूचना हिन्दू-एकराजत्व के विषय में उपर्युक्त अनुष्ठानों से प्राप्त होती है। उनका विवरण निम्न है:—[4]

---

१. शतपथ, ५|२|१|२२-२५
२. शतपथ, ५|४|४|६
३. डॉ० अल्तेकर, वही, पृष्ठ ३२६
४. डॉ० जायसवाल, वही, पृष्ठ ६५-६६

(१) हिन्दू एकराजता एक मानव संस्था थी; उसमें केवल मानव भाव था।

(२) हिन्दू एकराजता का आधार निर्वाचन था, निर्वाचक समस्त प्रजा हुआ करती थी।

(३) हिन्दू एकराजता का आधार परस्पर के कुछ पण या शर्तें हुआ करती थीं।

(४) हिन्दू एकराजता राज्य का एक पद था और उस पर रहने वाले को राज्य के अन्याय पदाधिकारियों के सहयोग से कार्य करना पड़ता था।

(५) हिन्दू एकराजता एक प्रकार की धरोहर या थाती थी, जिसमें देश की समृद्धि और उन्नति राजा के हाथ में सौंपी जाती थी।

(६) हिन्दू एकराजता किसी प्रकार की मनमानी या स्वेच्छाचारिता नहीं थी।

(७) हिन्दू एकराजता कानून या धर्म से बढ़कर नहीं थी वरन उसके अधीन थी।

(८) हिन्दू एकराजता मुख्यतः राष्ट्रीय और गौणतः सीमा सम्बन्धी थी अर्थात् पहले राष्ट्र या प्रजा के विचार से ही राज्य हुआ करते थे, सीमा के विचार से नहीं।

इन अनुष्ठानों से हमें प्राचीन भारतीय नृपतन्त्र के सम्बन्ध में कुछ और भी तथ्य ज्ञात होते हैं।

(१) इन विधियों से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण काल तक हिन्दू राजतन्त्र पूर्ण आनुवंशिक नहीं हुआ था। परन्तु यह प्रवृत्ति प्रारम्भ हो चुकी थी।

(२) राजा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य (कालांतर में शूद्र भी) सभी वर्णों का प्रतिनिधि होता था। अभिषेक के समय जल से सभी वर्णों द्वारा उसका अभिशेचन होता था।

(३) इन विधियों में राष्ट्रीय एकता की भी सूचना प्राप्त होती है। देश की विभिन्न सरिताओं से जल-ग्रहण हमारी सांस्कृतिक एकता की ओर संकेत करता है।

(४) धर्म की रक्षा करना भी राजा का परम कर्तव्य है।

राजा कौन हो ?—

पी० वी० काणे ने प्राचीन भारतीय राजशास्त्रकारों के आधार पर इन प्रश्न का विस्तृत विवेचन किया है कि राजा का पद किसे प्रदान किया जाय।[1] हिन्दू ग्रंथकारों में इस प्रश्न का मतभेद था। 'राजन' का एक अर्थ क्षत्रिय भी था फलतः मनु ने कहा कि राजपद किसी ऐसे क्षत्रिय को प्रदान किया जाना चाहिये जिसका उपनयन

१. P. V Kane, History of Dharmashastras Vol. III pp. ३७; ३८, ३९

संस्कर हो चुका हो तथा जो राज्य की रक्षा करने में समर्थ हो।[१] 'परन्तु राजधर्म कौस्तुभ, राजनीति प्रकाश तथा 'नीति मयूख' आदि ग्रंथों में 'राजन' शब्द की व्याख्या करते हुये यह दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया कि 'राजन' शब्द से तात्पर्य केवल क्षत्रिय से नहीं वरन् किसी भी उस व्यक्ति से है जो प्रजा की रक्षा करता है। सबर ने कहा कि आन्ध्र में राजन शब्द का प्रयोग उस क्षत्रिय के लिये भी होता है जो रक्षण कार्य नहीं करता।[२] कुमारिल के अनुसार सभी चारों वर्णों के व्यक्तियों ने शासन किया है।[३] कुल्लुक ने राजन् शब्द से तात्पर्य किसी भी उस व्यक्ति से लिया है जो अभिषिक्त हो चुका है तथा जो 'राज्य की रक्षा का कार्य करता है।[४] राजनीति रत्नाकर में कुल्लुक एवं कामधेनु का उद्धरण देते हुये कहा गया है कि 'राजन का अर्थ प्रजा की रक्षा करने वाले से है।[५] राजनीति प्रकाश के अनुसार राजन् के तीन अर्थ सम्भावित हैं, (१) जो प्रजा का रक्षण करता हो (२) साधारणत: एक क्षत्रिय अथवा (३) अभिषक्ति क्षत्रिय। सामान्यतया इसका प्रयोग एक शासक के लिये होता है।

प्राचीन भारतीय इतिहास में ऐसे अनेक वंशों का अस्तित्व प्राप्त होता है जो क्षत्रिय नहीं थे उदाहरणार्थ शुंग ब्राह्मण थे, काण्व भी ब्राह्मण थे वाकाटक एवं कदम्ब भी ब्राह्मण थे। मनु ने स्वतः इसका निर्देश दिया है कि वेदों के ज्ञाता ब्राह्मण को शासक, सेनापति तथा न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया जा सकता है।[६] ब्राह्मण ही नहीं वरन् शूद्र राजाओं के भी उदाहरण विद्यमान हैं। बंगाल में पाल वंश का संस्थापक गोपाल शूद्र था।[७] मनु ने ब्राह्मण को उस देश में न रुकने का निर्देश दिया है जहाँ का शासक शूद्र हो।[८] पुराणों में भी कलियुग की पतनावस्था का वर्णन करते हुये कहा गया है कि इस युग में अधिकांश शासक शूद्र होंगे जो अश्वमेघ यज्ञों का संचालन करेंगे।[९] उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि राजपद किसी एक वर्ण तक ही सीमित नहीं था।

---

१. मनुस्मृति ७/१
२. तन्त्रवार्तिक पृष्ठ ५८०
३. तन्त्रवार्तिक पृष्ठ ५८०
४. राजनीति रत्नाकर पृष्ठ २
५. राजनीति प्रकाश, पृष्ठ १४
६. मनुस्मृति, पृष्ठ १००
७. P. V Kane. वही पृष्ठ ३६
८. मनु, ४/६१
९. हरिवंश पुराण, ३/३,६

इस प्रश्न का दूसरा पक्ष है कि क्या नारियाँ राजपद की अधिकारिणी थी? पी० वी काणें के अनुसार यह लगभग सर्वस्वीकृत नियम था कि राजा पुरुष ही होगा परन्तु इसके अपवाद भी विद्यमान हैं।[1] महाभारत में शांतिपर्व में एक विजेता शासक के कर्तव्य बताते हुये कहा गया है कि उसे मृत शासक के भाई, पुत्र, पौत्र अथवा पुत्री को शासन भार प्रदान करना चाहिये।[2] राजतरंगिणी में कश्मीर को दो शासिकाओं सुगंधा (९०४-९०६ ई०) तथा दिद्धा (९८०-८१) का विस्तार से वर्णन किया गया है। गंजाम्र तम्रपत्र (१३ वीं सदा) में सुभाकर के मरने के बाद उसकी रानी का शासिका बनने का उल्लेख है तथा उसके मरने के बाद उसकी पुत्री दण्डी-महादेवी शासिका हुई। इसने एक दीर्घ अवधि तक शासन किया तथा परम भट्टारिका महाराजाधिराज परमेश्वरी' को उपाधि से अपने को विभूषित किया। रघुवंश में राजा अग्निवर्ण की विधवा पत्नी के गद्दी पर बैठने तथा शासन-सचालन का वर्णव है।[3]

उत्तराधिकार के नियम

पी० बी० काणें के अनुसार विजय एवं निर्वाचन के कुछ अपवादों को छोड़कर प्राचीन भारत में राजतंत्र आनुवंशिक था तथा उत्तराधिकार राजा के सबसे बड़े पुत्र को प्राप्त होता था।[4] शतपथ ब्राह्मण में एक ही वंश की दस पीढ़ियों तक क्रमिक रूप से राजपद की प्राप्ति का उल्लेख है।[5] वेदों में बड़े पुत्र के अधिकारों की रक्षा ईर्ष्या-पूर्वक की गई है। बड़े पुत्र या पुत्री के अविवाहित रहते उससे छोटों बड़ों का विवाह की भी निन्दा की गई है। दोनों में इन्द्र की ज्येष्ठता के आधार पर ही राजपद प्राप्त हुआ था (तै० ब्रा० २|२. ११.५)। ऋग्वेद में भी इन्द्र की ज्येष्ठता का कई बार उल्लेख आया है। निरुक्त (२|१०) में कुरु वंश से सम्बन्धित एक गाथा का उल्लेख है। देवापि एवं शान्तनु दो भाई थे। देवापि बड़ा था लेकिन शान्तनु ने राजसत्ता हस्तगत कर ली। फलस्वरूप राज्य में १२ वर्ष का अकाल पड़ा। ब्राह्मणों

---

१. "It was almost a universal rule that a male alone was to be the ruler."—V. P. Kane, वही, पृष्ठ ४०

२. शान्तिपर्व, ३३।४३-४६

३. रघुवंश, १९।५५, ५७

४. "Apart from conquest and election in rare cases, moneraly was hereditore and generally descended by primogeniture"—P. V. Kane, वही, पृष्ठ ४१

५. शतपथ, १२।९.३, १.३

ने एकत्रित होकर कहा कि आपने बड़े भाई के रहते राजपद ग्रहण करके धर्म का उलंघन किया है अतः देव रुष्ट होकर वृष्टि नहीं कर रहे हैं। शान्तनु राजपद छोड़ने को तैयार हुआ। गाथा से स्पष्ट है कि उत्तराधिकार में बड़े भाई के अधिकारों का हनन सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टि से एक पाप माना जाता था। वृहद देवता में भी यही गाथा सविस्तार वर्णित है। महाभारत के आदिपर्व (८५/२२. २५ में एक अन्य उल्लेख है जहाँ ययाति अपने बड़े पुत्रों यदु तथा अन्यों की उपेक्षा करके छोटे पुत्र को राजा बनाना चाहते हैं। लेकिन ब्राह्मणों ने इसका विरोध यह कह कर किया कि 'बड़े पुत्र की उपस्थिति में छोटा पुत्र किस प्रकार राजा बन सकता है।'

'कथं ज्येष्ठानतिक्रम्य कनीयान राज्यमर्हति।'

रामायण में भी कई स्थल ऐसे हैं जिनसे बड़े भाई के ही उत्तराधिकार प्राप्त करने के नियम की पुष्टि होती है। दशरथ राम से कहते हैं "तुम मेरी सबसे बड़ी रानी जो मेरे ही वर्ण (क्षत्रिय) की है, के पुत्र हो।" वशिष्ठ राम से कहते हैं। "इक्ष्वाकुओं में राजा का सबसे बड़ा पुत्र ही उसका उत्तराधिकारी होता है।"

'इक्ष्वांकूणां हि सर्वेषां राजां भवति पूर्वज'[1]

कौटिल्य ने भी कहा कि लोग उसी राजत्व का सम्मान करते हैं जो नियमतः बड़े पुत्र को प्राप्त हुई हो।[2]

मनु ने भी कहा है कि पहले पुत्र के जन्म से ही व्यक्ति पितृ-ऋण से मुक्त हो जाता है अतः पिता के समस्त उत्तराधिकार का अधिकारी बड़ा पुत्र ही है।[3]

राजधर्म काण्ड (पृ० २३४-३५) में कालिकापुराण तथा रामायण का उद्धरण देते हुए इस सम्बन्ध में निम्न नियम दिये गये हैं—

(१) राजा के औरस पुत्र को चाहे वह आयु में कम हो अधिक अन्य ग्यारह प्रकार के गौण पुत्रों की तुलना में उत्तराधिकार प्राप्ति में वरीयता प्राप्त होगी।

(२) यदि किसी छोटी रानी का पुत्र किसी बड़ी रानी के पुत्र से आयु में बड़ा है तो उत्तराधिकार उसे प्राप्त होगा।

(३) यदि दो रानियों को एक ही समय पुत्र उत्पन्न होते हैं तो उसमें बड़ी रानी का पुत्र उत्तराधिकारी होगा।

(४) यदि बड़ी रानी को ही जुड़वाँ पुत्र उत्पन्न होते हैं तो उनमें जो पहले उत्पन्न हुआ है उत्तराधिकारी होगा।

---

१. रामायण, ३/३४० तथा २/११.०३६
२. अर्थ, १/१७
३. मनु, ९/१०६

इस सामान्य नियम का उल्लंघन तभी होता था जब बड़े पुत्र में शारीरिक या मानसिक दोष हो। धृतराष्ट्र बड़े होते हुए भी अन्धा होने के कारण राजा नहीं बन सके। शुक्र ने भी कहा है कि यदि बड़ा पुत्र गूंगा, बहरा, अंधा, कोढ़ी अथवा नपुंसक है तो उसका छोटा भाई अथवा पुत्र राज्य का उत्तराधिकारी होगा।[1] राजधर्म कौस्तुभ में इस सम्बन्ध में कुछ और भी नियम दिये गये हैं—

(१) यदि बड़े पुत्र को शारीरिक या मानसिक अयोग्यता के कारण उत्तराधिकार नहीं मिलता है तो भी उसके पुत्रों का उत्तराधिकारी प्राप्त करने का अधिकार बना रहेगा।

(२) यदि बड़े पुत्र की शारीरिक क्षीणता के कारण छोटा पुत्र राजा होता है तो उसके मरने के बाद राजा उसी का पुत्र होगा न कि अयोग्य बड़े पुत्र जो छोटे पुत्र के राजा बनने पर उत्पन्न हुआ है।

नीतिवाक्यामृत में उत्तराधिकार का निम्न क्रम प्रदान किया गया है—पुत्र, सगा-भ्राता, चचेरा भ्राता, चाचा, उसी कुल का कोई भी पुरुष, पुत्री का पुत्र, कोई भी अन्य व्यक्ति जो राजा चुन लिया जाता है अथवा जो राजपद हस्तगत कर लेता है।[2]

राजा के गुण—

कौटिलीय अर्थशास्त्र में राजा के गुणों को कई दृष्टियों से वर्गीकृत किया गया है।

(१) अभिगामिक गुण :—ऐसे गुण जो दूसरों को उसकी ओर आकृष्ट कर लें तथा उनके हृदय को वशवर्ती कर लें। वह उच्च कुल का हो, उसमें दैवी बुद्धि एवं शक्ति हो, कृतज्ञ हो, उच्च लक्ष्य वाला हो, उत्साही हो, दीर्घसूत्री न हो, सामन्तों को वश में रखने में समर्थ हो, दृढ़ बुद्धि वाला हो, उसकी परिषद् अयोग्य न हो, तथा वह नियन्त्रित (विनयी) हो।[3]

(२) धी गुण :—(बौद्धिक गुण) उसमें जानने की इच्छा हो, दूसरों की बात सुने, सुन कर ग्रहण करे, विचारशील हो, तर्क से प्राप्त सार रूप परिणाम पर दृढ़ रहे।[4]

---

१. शुक्रनीतिसार, १/३४३-३४४
२. नीति, २४/२४६
३. अर्थ, ६/१
४. अर्थ, ६/1

(३) शौर्य सम्बन्धी गुण—उसमें शौर्य, अमर्ष, निर्णय तथा कार्य में शीघ्रता एवं दक्षता होनी चाहिये।[1]

(४) आत्म-सम्पत—(व्यक्तिगत गुण): इन्द्रियों का विजय, काम, क्रोध, लोभ मान, भय आदि का त्याग, तथा शास्त्रों के अनुसार कार्य करना आदि गुण भी उसमें आवश्यक हैं।[2]

महाभारत के शांतिपर्व में राजा के ३६ गुणों की गणना की गई है। कामन्दक ने राजा के १९ गुण बताये हैं। मानसोल्लास में राजा के ४४ गुण बताये गये हैं परन्तु उनमें से पाँच को प्रधानता दी गई है—(१) सत्यता (२) शौर्य (३) सहनशीलता (४) उदारता (५) दूसरों को योग्यता का परख एवं प्रशंसा की शक्ति। इसी प्रकार अग्निपुराण में राजा के २१ गुणों की गणना की गई है।

महाभारत के सभापर्व एवं रामायण (२|१००|६५-६७) में चौदह ऐसे दोषों की भी गणना की गई है जिनसे राजा को बचना चाहिए—(१) नास्तिकता (२) मिथ्याभाषण (३) क्रोध (४) लापरवाही (५) अपनों के साथ पक्षपात (६) अदूरदर्शिता (७) आलस्य (८) पंचेन्द्रियों का वशवर्ती होना (९) राजकार्यों पर अकेले विचार (१०) राजशास्त्र में अभिज्ञ व्यक्तियों से परामर्श (११) निर्णीत की आरम्भ न करना (१२) राजकीय मन्त्रणाओं को गोपनीय न रखना (१३) सदाचारों से दूर रहना (१४) एक ही समय विभिन्न प्रकार के विविध कार्यों की प्रारब्धि।

कौटिल्य ने गुणों एवं अवगुणों के आधार पर सफल तथा असफल राजाओं के उदाहरण भी दिये हैं—

(१) दाण्डक्य भोज तथा वैदेह कराल काम के वशीभूत होकर विनष्ट हुये।

(२) जनमेजय तथा तालजंघ कोप के कारण विनष्ट हुये।

(३) राजा ऐल तथा सौवीर लोभ के कारण नष्ट हुये।

(४) हैहय अर्जुन का विनाश मद के कारण तथा वातापि व द्वैपायन का नाश हर्ष के कारण हुआ।

(५) इसके विपरीत जामदग्न्य तथा नाभाग अम्बरीष चिरकाल तक शासन करते रहे क्योंकि वे इन्द्रियजयी थे।

अतः कौटिल्य ने राजा के इन्द्रियजयी होने पर विशेष बल दिया है।

---

१. अर्थ १/३

२. अर्थ १/३

राजा के कर्तव्य

(१) प्रजा की रक्षा :—राजशास्त्र के सभी विचारकों ने प्रायः निर्विवाद रूप से इस तथ्य को स्वीकार किया है कि राजा का सर्वप्रमुख कर्तव्य प्रजा की रक्षा है। शांतिपर्व में (६८|१—४) राजा का सर्वोच्च धर्म प्रजा की रक्षा कहा गया है। मनु (७/१-४४) ने भी राजा को सर्वप्रमुख प्रजा रक्षक माना है। मनु ने अन्यत्र (६|३०६) कहा है कि राजा शास्त्रानुसार प्रजा का रक्षा करके तथा दण्डित होने योग्य व्यक्तियों को दण्ड देकर प्रतिदिन अनेकों यज्ञो के सैकड़ों गायों का फल प्राप्त करता है। नारद, शुक्र, अत्रि आदि सभी ने राजा के इस कर्तव्य की महत्ता को स्वीकृत किया है।

रक्षण में वाह्य शत्रु से रक्षा तथा आन्तरिक शत्रुओं से रक्षा दोनों ही पक्ष सम्मिलित है। कामन्दक ने (५|८२-८३) इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि अधिकारियों, चोरों राजा के शत्रुओं, राजा के प्रिय (रानी एवं राजकुमार आदि) तथा स्वतः राजा की लिप्सा से प्रजा की रक्षा होनी चाहिये।

(२) प्रजा का रंजन—यह सिद्धांत भी प्रायः सर्वस्वीकृत है कि राजा इसलिये राजा कहा जाता हैं कि वह प्रजा का रंजन करता है। कौटिल्य ने तो प्रजा का हित माना है। रंजन के अन्तर्गत प्रजा का सर्वाङ्गीण उत्थान एवं विकास भी सम्मिलित है। अन्धों पीड़ितों अनाथों शारीरिक दृष्टि से अक्षम तथा विधवाओं की सहायता का प्रबन्ध भी राजा का कर्तव्य था।[1]

(३) साहित्य कला एवंधर्म का संरक्षण :—कौटिल्य ने स्पष्ठ निर्देश दिया है कि राजा कर्तव्य का विद्यार्थियों, विद्वान ब्राह्मणों एवं यज्ञकर्ताओं की रक्षा है।[2] इसी प्रकार का मत औशनस, मनु, अत्रि ने तथा महाभारत एवं मत्स्यपुराण में भी प्रकट किया गया हैं।

(४) दण्ड का सम्यक प्रयोग—महाभारत के अनुसार धर्म और अर्थ की रक्षा दण्ड द्वारा ही होती है—"दण्डः संरक्षते धर्मं तथैवार्थं जनाधिप।" यदि राजा इस दण्ड का सम्यक् प्रकार के प्रयोग करे तो वह स्वयं को प्राप्त करता है, यदि वह इसका स्वेच्छापूर्वक प्रयोग करे तो दण्ड द्वारा ही उसका विनाश भी होता है।[3] कौटिल्य ने भी दण्ड को धर्म, अर्थ तथा काम का रक्षक कहा है और राजा द्वारा इसके सम्यक प्रयोग पर बहुत बल दिया है।[4]

१. महा, शान्तिपर्व, ८६|२४, मत्स्यपुराण, २१५|६२ तथा अग्निपुराण २२५|२५
२. अर्थशास्त्र, २|१
३. शा० प० १४/४५
४. अर्थ०, १|३

(५) प्रजा को स्वधर्म में स्थित रखना—कौटिल्य के अनुसार स्वधर्म का पालन स्वर्ग और मोक्ष के लिये होता है यदि स्वधर्म का उल्लंघन किया जाय तो अव्यवस्था उत्पन्न हो जायेगी और समाज नष्ट हो जायेगा। जो राजा स्वधर्म को कायम रखता है वह इहलोक और परलोक में प्रशंसा प्राप्त करता है।[1] वशिष्ठ धर्म-सूत्र कामन्दक नीतिसार तथा महाभारत में भी इसी बात पर जोर दिया गया है कि राजा को चारों वर्णों को उनके स्वधर्म में स्थिर रखना चाहिये। यदि कोई इसका अतिक्रमण करे तो उसके प्रति दण्ड का प्रयोग किया जाय।

राजा का समय विभाग—राजा को कर्तव्योन्मुख करने के लिये कौटिल्य ने विस्तार से राजा की समय सारिणी निर्धारित की है।[2] उन्होंने रात और दिन का आठ-आठ भागों में विभक्त कर दिया है :—

दिन के आठ भाग

प्रथम—देश की रक्षा व्यवस्था तथा आय-व्यय पर विचार विमर्श।

द्वितीय भाग—पौर-जानपदों के काम देखे।

तृतीय भाग—स्नान, भोजन, स्वाध्याय।

चतुर्थ भाग—विभिन्न भागों के अध्यक्षों से साक्षात्कार।

पंचम भाग—मन्त्रि परिषद् से परामर्श तथा गुप्तचरों से बातचीत।

षष्टम भाग—आमोद-प्रमोद या राज्य विषयक विचार विमर्श।

सप्तम भाग—सेना व अस्त्र-शस्त्र का निरीक्षण।

अष्टम भाग—सेनापति के साथ मिलकर युद्ध सम्बन्धी-विचार।

रात्रि के आठ भाग

प्रथम भाग—गूढ़ पुरुषों से साक्षात्कार।

द्वितीय भाग—स्नान भोजन व, स्वाध्याय।

तृतीय—तूर्य के घोष के साथ शयन।

चतुर्थ }
पंचम } शयन।

छठवां भाग—तूर्य घोष के साथ जागकर शास्त्र व कर्तव्यों का चिंतन।

सातवां भाग—राजकीय विषयों पर विचार विमर्श व गूढ़ पुरुषों (गुप्तचरों) से साक्षात्कार।

आठवां भाग—आचार्य के साथ स्वस्ति वाचन तथा धार्मिक कृत्यों का अनुष्ठान।

---

१. अर्थ २/३

२. अर्थ १/१९

कौटिल्य द्वारा प्रस्तुत राजा को इस समय-सारिणी में राजा को विश्राम के लिये केवल चार घण्टे का समय निर्धारित किया गया है। भोजन, स्नान, नित्यकर्म आदि के लिये भी केवल तीन घण्टे रखे गये हैं—शेष समय राजकार्यों के लिए प्रदान किया गया है। राजा के कर्तव्य पालन के सम्बन्ध में कौटिल्य ने कुछ अन्य निर्देश भी दिये हैं :—[1]

(१) राजा को अपना कार्य कर्मचारियों पर नहीं छोड़ना चाहिए।

(२) अत्यंतिक कार्यों पर तुरन्त ध्यान दिया जाय, निर्णय को स्थगित न किया जाय।

(३) राजा सदा उत्थानशील होकर राजकार्यों का अनुशासन करे।

"जो राजा विद्या द्वारा स्वयं नियन्त्रिन होकर प्रजा को भी नियन्त्रित रखने में तत्पर होता है। वह सबके हित में रत रह कर अनन्य रूप से पृथ्वी का योग करता हैं।"

"विद्याविनीतो राजाहि प्रजानां विनये रत: ।
अनन्यां पृथिवो भुङ्क्ते सर्वभूतहिते रत: ।"

कौटिल्य के इस प्रतिपादन में राजा स्वेच्छाचारिता को कोई स्थान नहीं है। आत्म नियंत्रण, धर्म एवं व्यवहार का अनुसरण करते हुये राजा को कर्तव्य पालन करना चाहिये अन्य प्रकृतियाँ कुपित होकर उसके विरुद्ध उठ खड़ी होंगी और उसका विनाश हो जायेगा।

राजा की स्थिति

हिन्दू एकराजस्व में राजा की स्थिति सर्वप्रधान होते हुए भी असीमित एवं अनियंत्रित नहीं थी। हिन्दू ग्रंथकारों ने राजा और प्रजा दोनों को एक दूसरे के पूरक के रूप में देखा है। महाभारत में इसी भाव को निम्न शब्दों में प्रकट किया गया है—

राजा प्रजा का प्रथम शरीर है तो प्रजा भी राजा के अप्रतिम (अनुपम) शरीर है। राजा के बिना देश (राज्य) नहीं होता और देश के बिना राजा नहीं होता।"

!राजा प्रजानां प्रथमं शरीरं प्रजाश्च राज्ञो अप्रतिमं शरीरम् ।
राज्ञा विहीना न भवंति देशा: देशैर्विहीना न नृपा भवन्ति ॥"

---

१. अर्थशास्त्र, १|१९
२. उपर्युक्त; १|२
३. महा०, शां० प० ६७|५९

तात्पर्य यह कि राजा और राज्य की सत्ता एक दूसरे पर निर्भर है। जितना महत्व राजा का है उतना ही राज्य व प्रजा का भी है।

(१) राजा प्रजा का स्वामी नहीं—केवल अपराधियों को छोड़ कर राजा किसी प्रजा का स्वामी नहीं था। बौद्ध जातक की एक कथा में यह प्रसंग आया है कि एक राजा की परम सुन्दरी रानी ने उस राजा से कहा था कि मैं समस्त राष्ट्र या प्रजा पर पूर्ण अधिकार चाहती हूँ। इसका उत्तर उस राजा ने निम्न शब्दों में दिया था—

"हे भद्रे, मेरे लिए समस्त राष्ट्र के निवासी कोई चीज नहीं हैं। मैं उनका स्वामी नहीं हूँ। मैं केवल उन्हीं लोगों का स्वामी हूँ जो शासन के विरुद्ध कोई अपराध करते हैं या कोई नियम विरुद्ध कार्य करते हैं।"[1]

(२) राजा राष्ट्र का सेवक— राजा की स्थिति राष्ट्र के एक सेवक या भृत्यु के समान थी। उसे कठोरतापूर्वक श्रम करने वाला एक दास कहा गया है। राजा के लिए कौटिल्य ने राज्य के अन्य कर्मचारियो की भाँति वेतन की व्यवस्था की है। उसके बराबर विद्या वालों को जो वेतन दिया जाय उससे तीन गुना वेतन राजा को दिया जाय। कौटिल्य ने युवराज, राजमाता तथा राजमहर्षि को भी ४००० पण मासिक वेतन की व्यवस्था की है।[2] बौधायन ने राजा को प्रजा का सेवक कहा है। नारद भी कर को राजा द्वारा प्रजा की रक्षा का पारिश्रमिक कहते हैं।

(३) नैतिक दृष्टि से स्वामी—राजा का अपना कोई व्यक्तिगत हित नहीं होता था, प्रजा का हित ही उसे प्रिय होता था। इस उच्च त्याग-भाव के कारण ही डा० जायसवाल के अनुसार "जो व्यक्ति राष्ट्र-संघटन की दृष्टि से राष्ट्र का दास होता था वही नैतिक दृष्टि से उसका स्वामी भी होता था।"[3]

(४) राजा की स्थिति ध्वजमात्र—कौटिल्य ने राज्य में राजा की स्थिति 'ध्वजमात्र' ही माना है—'ध्वजमात्रोऽयम्'।[4] विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस में चन्द्रगुप्त मौर्य को 'सचिवायत्त सिद्धि' कहा है अर्थात् वह सचिवों के अधीन रहते हुए ही राजकार्यों का संचालन करता था।

(५) राजा दण्ड के अधीन—राजा दण्ड का प्रणेता नहीं था वरन् उसका प्रयोक्ता था। वह स्वतः दण्ड के अधीन रहते हुए अपने कर्त्तव्यों का सम्पादन करता

१. जातक, खण्ड १, पृष्ठ ३९८
२. अर्थ, ५/३
३. डा० का० प्र० जायसवाल, हिन्दू राज्यतंत्र, भाग २, पृ० २७२
४. अर्थ, ५/६

था। यदि वह दण्डशक्ति का दुरुपयोग करे तो कौटिल्य के अनुसार गृहस्थ ही नहीं वरन् वानप्रस्थ और संन्यासी भी कुपित होकर उसके विरुद्ध विद्रोह कर सकते थे।[1] कौटिल्य ने स्वतः 'अधार्मिक' राजा नन्द की सत्ता को समूल नष्ट करने का सफलता-पूर्ण अभियान प्रारम्भ किया था।

हिन्दू राजतंत्र का आदर्श—

मनु ने राजा को आठ लोकपालों का शरीर कहा है। उसमें इन्द्र, सूर्य, वायु; यम, वरुण, चन्द्र अग्नि तथा पृथ्वी का अंश है अतः राजा के सम्मुख इन दैवी शक्तियों के आचरण करने का आदर्श प्रस्तुत किया गया—

(१) इन्द्र—चार माह तक वर्षा करता है। राजा को उसी के समान प्रजा के लिए अभिलाषित पदार्थों की वर्षा करना चाहिये।

(२) सूर्य—आठ मास तक अपनी किरणों से जल का शोषण करता है। राजा भी उसके समान कर ग्रहण करता है।

(३) वायु—जिस प्रकार सभी प्राणियों में प्रवेश करता है उसी प्रकार राजा को भी अपने दूतों के माध्यम से प्रत्येक तक पहुँचाना चाहिये।

(४) यम—सबको प्रिय या अप्रिय का भेद किये बिना मृत्यु प्रदान करता है। राजा को भी यम के समान अपराधियों का नियंत्रण करना चाहिये।

(५) वरुण—जिस प्रकार सारा जगत वरुण के पास बँधा हुआ है, उसी प्रकार राजा को भी सबको आबद्ध रखना चाहिये।

(६) चन्द्र—जिस प्रकार सबको शीतल करता है उसी प्रकार राजा को भी अपने आचरण से सबको प्रसन्न और शीतल रखना चाहिये।

(७) अग्नि—जिस प्रकार अग्नि की उष्णता सबको जला देती हैं उसी प्रकार राजा को भी पापियों एवं दुष्टों का शमन करना चाहिए।

(८) पृथ्वी—जिस प्रकार सबको समान रूप से धारण करती है, उसी प्रकार राजा को भी सबको एक ही दृष्टि रखनी चाहिए।

इस उक्त उपमा में राजा के सर्वोत्तम आदर्श निहित हैं। हिन्दू राजा के आदर्शों को हम निम्न शीर्षकों में वर्गीकृत कर सकते हैं—

(१) धर्माचरण—वैदिक काल से ही राजा धर्म का रक्षक, पोषक एवं समर्थक समझा जाता रहा। सर्वप्रथम राजा वेण ने यह प्रतिज्ञा की थी श्रुतस्मृतियों में जो धर्म कहा गया है मैं उसका पूरा पालन करूंगा और कदापि मनमानी न

---

१. अर्थ, १/४

करूँगा।[1] जातक की कथा में कहा गया है कि यदि राजा अन्यायी हो तो शक्कर और नमक भी अपना स्वाद छोड़ देते हैं।[2] धर्म और सदाचार की वृद्धि तभी सम्भव थी जब राजा स्वतः उसका आदर्श बने। महाभारत में कहा गया है कि राजा धर्माचरण के लिये ही होता है अपनी कामनाओं की सिद्धि के लिये नहीं।

'धर्माय राजा भवति न काम करणायतु।'

(२) प्रजाहित :—महाभारत के शान्ति पर्व में एक उपमा से राजा के इस आदर्श की अभिव्यक्ति की गई है। गर्भिणी स्त्री जिस प्रकार अपने मनोनुकूल कार्य न करके सदा अपने गर्भ के हित का ध्यान रखती है इसी प्रकार राजा को भी सदैव प्रजाहित का ध्यान रखना चाहिये। इसी पर्व में अन्यत्र कहा गया है कि राजा का सनातन धर्म प्रजारंजना, सत्यरक्षण एवं व्यवहार की सत्यता है।

(३) प्रजारक्षण :—

'राजैवकर्त्ता भूतानां राजैव च विनाशक।
धर्मात्मा यः स कर्त्ता स्याद् धर्मात्मा विनाशक।'
म० शां० पर्व

'राजा ही प्राणियों का रक्षक होता है और वही विनाशक। जो धर्मात्मा है वही रक्षक है और जो अधर्मात्मा है वही विनाशक।'

अतः स्पष्ट है कि राजा के धर्माचरण में ही प्रजा का रक्षण भी निहित था।

(४) राज्य एक थाती :—हिन्दू एकराज शासन प्रणाली में राज्य एक थाती था जो समृद्धि एवं विकास के लिये राजा को सौंपा जाता था। राज्याभिषेक के समय राजा से कहा जाता था—"यह राज्य तुम्हें कृषि, कल्याण, सम्पनता तथा पोषण के लिये दिया जाता है।[3] अतः राजा इस थाती को सम्हालने एवं समृद्ध करने वाला वहनकर्त्ता था।

राजा का निर्वाचन—

प्राचीन भारत में राजा का निर्वाचन होता था अथवा नहीं यह आधुनिक विद्वानों में एक विवाद का विषय है। प्राचीन भारतीय वाङ्गमय में कुछ ऐसे उद्धरण विद्यमान है जिनसे इस बात का संकेत मिलता है कि राजपद निर्वाचन का विषय था। कुछ ऐतिहासिक उदाहरणों से इस तथ्य की पुष्टि भी होती हैं। फलतः आधुनिक

१. महाभारत, १२|५९|११६
२. जातक, भाग ३; पृ० १११
३. शुक्ल यजुर्वेद, ९|२२

विचारकों में से कुछ इस मत के हैं कि आठवीं सदी ईसवी तक राजा का निर्वाचन एक सामान्य प्रथा थी परन्तु इतिहासकारों का एक वर्ग ऐसा भी है जो उक्त उद्धरणों एवं उदाहरणों की दूसरे ढंग से व्याख्या करके इस मत का खण्डन करता हैं। पहले उन उद्धरणों एवं उदाहरणों पर दृष्टिपात किया जाय जो राजा के निर्वाचन संकेत प्रदान करते हैं, तत्पश्चात उनकी आधुनिक विद्वानों द्वारा दी गई व्याख्या का विश्लेषण किया जाय।

(१) ऋग्वेद (१०/१२४-८) में विशों द्वारा राजा के निर्वाचन का विवरण है।

(२) अथर्ववेद (३,४,२) में भी विशों द्वारा राजा के वरण का उल्लेख है :

''त्वां विशो वृणवां राज्याय त्वामिमाः प्रादिशः पंच देवीः।' अर्थात्—

''राज्य के लिये प्रजा तुम्हें वरण करती है, विस्तृत विशाल दिशायें तुम्हें वरण करती हैं।''

(३) अथर्ववेद में अन्यत्र भी (३,५,६) निर्वाचन का एक अस्पष्ट संकेत इस सन्दर्भ में विद्यमान है जहाँ राजा राजसिंहासन का आरोहण करने के बाद उपस्थित व्यक्तियों जिन्हें 'राजानः राजकृतः' कहा गया है, से लक्षण स्वरूप बाहु पर धारण करने की एक मणि ग्रहण करता रहता था। मणि ग्रहण करते समय राजा कहता था—

ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये।
उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्णमितो जनान्॥

अर्थात् 'हे पर्ण, सब राजा और राजकर्ता, सूत तथा ग्रामणी और जो लोग मेरे आसपास उपस्थित हैं, मेरी सहायता करें।,

(४) तैत्तिरीय एवं शतपथ ब्राह्मण में भी राज्याभिषेक के समय राजा का रत्निन के पास जाकर हवि प्रदान करने का उल्लेख है। सम्भवतः अथर्ववेद में वर्णित 'राजकृतः' (राजकर्ता) को ही यहाँ रत्निन कहा गया है। इन ब्राह्मणों में इस बात का भी उल्लेख है कि यही रत्निन राजा को 'राष्ट्र' प्रदान करते थे।

उपर्युक्त वैदिक उद्धरणों के आधार पर डॉ० काशी प्रसाद जायसवाल ने प्रतिपादित किया है कि इस युग में राजा निर्वाचित होता था[1] उन्होंने यह भी कहा है कि राजा अपने पूरे जीवन काल के लिये निर्वाचित होता था। डा० अल्तेकर ने वैदिक-युग की प्रारम्भिक अवस्था में यदा-कदा निर्वाचनों का अस्तित्व स्वीकर करते हुये कहा है कि साधारणतः सबसे प्रतिष्ठित कुल के सबसे वयोवृद्ध व्यक्ति को ही नेता

1. K. P. Jayaswal, Hindu Polity, p. 7

मानकर नेता पद पर प्रतिष्ठित कर दिया जाता था।[1] "The cases of election were, however, the exception rather than the rule, the usual tendedcy was to accept the leadership of the seniormost member of the seniormost family and formaley elect him as the king." उनके अनुसार निर्वाचन की प्रथा वैदिक काल में भी प्रायः अव्यवहृत हो चुकी थी। इसका प्रमाण यह है कि ऋग्वेद में अधिकतर राजपद आनुवंशिक दिखाई देते हैं। तृत्सुओं में राजपद चार पीढ़ी से चला आ रहा था। संजयों में राजपद दश पीढ़ी से चला आ रहा था। राज्याभिषेक के समय की घोषणा में भी नये राजा को राजा का पुत्र कहा गया है (ऐ० ब्राह्मण, ८.१२)। अतः डॉ० अल्तेकर के निष्कर्षानुसार उत्तर वैदिक काल के बहुत पहले ही राजा का पद आनुवंशिक बन गया था।

रामायण और महाभारत में भी कुछ उद्धरण ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध विद्वानों ने राजा के विर्वाचव की परम्परा स्थापित किया है।

(१) जब राजा दशरथ वृद्ध हो गये और उन्होंने राम को युवराज बनाना चाहा तो उन्होंने कोशल की परिषद् का अधिवेशन बुलाया। जब दशरथ परिषद् भवन में आये और अपने आसन पर बैठ गये तो 'लोक-सम्मत राजाओं ने भवन में प्रवेश किया।[2] इन लोक-सम्मत राजाओं का साम्य वैदिक काल के 'राजकृतः राजानः' से स्थापित करके यह स्वीकार किया गया है कि विश या प्रजा द्वारा राजा के वरण की परम्परा अब भी विद्यमान थी।

(२) दशरथ की मृत्यु के बाद अमात्यों की सभा में, पुरोहित वशिष्ठ की उपस्थिति में ऋषि मार्कण्डेय तथा वामदेव ने घोषित किया कि राम एवं लक्ष्मण बन में हैं, भरत एवं शत्रुघ्न केकय देश गये हैं। अत इक्ष्वाकु वंश के किसी व्यक्ति को राजा बनाया जाय।[3] यहाँ इन ऋषियों एवं अमात्यों को 'राजकर्त्तारः' (राजा का कर्त्ता) कहा गया है।

(३) महाभारत में भी इस प्रकार की दो कथायें हैं जहाँ प्रजा ने उत्तराधिकार प्रदान करने के प्रश्न पर राजा की इच्छा का विरोध किया है—(क) राजा ययाति ने जब अपने ज्येष्ठ पुत्रों यदु, तुर्वसु आदि की अपेक्षा करके पुरु को राजा बनाना चाहा तो सभी वर्णों के लोगों ने महल के सम्मुख उपस्थित होकर इसका प्रतिवाद किया।[4]

१.

२. रामायण अयोध्या काण्ड, १|४६-४७

३. उपर्युक्त, अयोध्या काण्ड, सर्ग ४३

४. महा० आदि पर्व, ८५|१८-२१

(ख) राजा प्रतीप ने जब अपने पितृभक्त, सत्यवादी व धार्मिक ज्येष्ठ पुत्र देवापि को राजा बनाना चाहा तो ब्राह्मणों वृद्धों एवं पौरजानपदों ने इसका विरोध किया क्योंकि देवापि त्वक् रोग से पीड़ित था।[1]

डॉ० अल्तेकर ने महाभारत के इन उद्धरणों की व्याख्या करते हुये कहा है कि इन दोनों घटनाओं से यही सिद्ध होता है कि जनता ने ज्येष्ठ पुत्र के पिता की गद्दी पर बैठने के अधिकार को स्वीकार कर लिया था। इनसे यह सिद्ध नहीं होता कि जनता को राजा के निर्वाचन में भाग लेने का अधिकार था। उन्होंने रामायण के भी सन्दर्भों की व्याख्या की है और कहा कि राम को युवराज बनाये जाने के प्रस्ताव पर सहमति के लिये दशरथ ने जनता के नेताओं को नहीं वरन् अपने करद या सामन्त राजाओं को बुलाया था। उन्होंने औपचारिक रूप से राम के युवराज बनाये जाने की सहमति अवश्य दी परन्तु उनकी सहमति का मूल्य इसी से प्रकट हो जाता है कि राम का वनगमन उससे न रुक सका।

निर्वाचन के ऐतिहासिक उदाहरण—

(१) क्षत्रप रुद्रदामन को (१३० ई०) सौराष्ट्र की जनता ने राजा चुना था।[2]

(२) बंगाल का पाल वंश का संस्थापक गोपाल भी राजा चुना गया था।

(३) हर्षवर्धन भी राज्यवर्धन की मृत्यु के बाद मन्त्रिपरिषद् द्वारा राजपद के लिये चुना गया था।[3]

(४) पल्लव वंश के शासक परमेश्वर वर्मन द्वितीय के मरने के बाद राज्य में अराजकता फैल गई जिसको समाप्त करने के लिये प्रजा ने एक राजा चुना।[4]

(५) राजतरंगिणी में यशस्कर नाम के राजा का वर्णन है जो सामान्य व्यक्ति से ब्राह्मणों द्वारा राजपद के लिये चुना गया था।

डा० अल्तेकर ने इन उदाहरणों की भी विस्तार से व्याख्या करते हुए अपना निष्कर्ष दिया है कि राज्य का उत्तराधिकारी न होने पर अमात्य और अन्य ऊँचे अधिकारी मृत राजा के सम्बन्धियों में से किसी सुयोग्य व्यक्ति को राजा चुनते थे। उनके

१. महा० शान्तिपर्व, ८५/७-१०
२. जूनागढ़ अभिलेख
३. S. Beai, Buddhist Records of the western world pp, २१०-२१६
४. Dr C. Minakshi, 'Administration and Sociai life under the Pallavas, पृष्ठ ३८

अनुसार ६०० ई० पूर्व से जिन राज्यों का पता चलता है वे सब पैतृक परम्परा से ही चलते थे। इस प्रकार डा० अल्तेकर ने डा० काशी प्रसाद जायसवाल[1] एवं रमेशचन्द्र मजूमदार[2] के इस मत को निराधार बताया है कि ईसा की आठवीं सदी तक राज-पद के लिये निर्वाचन हुआ करता था।

राजा का देवत्व

भारत के अतिरिक्त प्राचीन एवं मध्यकालीन विश्व के बहुत से देशों में राजा को देवता या ईश्वर का प्रतिनिधि मानने की धारणा विद्यमान थी। प्राचीन बेबीलोनिया एवं असीरिया में राजा ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था। प्राचीन यूनान में भी राजा वहाँ के सर्वोच्च देव जियस के वंश का माना जाता था। प्राचीन मिस्र में भी 'फराओं' (राजा) सूर्य देव (एमन रा) का पुत्र माना जाता था। प्रथम सदी ईसवी के बाद रोम के सम्राट भी मरने के बाद देवता घोषित किये जाते थे। और मन्दिरों में उनकी प्रतिमाएँ स्थापित कर पूजी जाती थीं। योरोप में सोलहवीं सदी इसवी के बाद पोप के देवत्व पर तो धर्मसुधार आन्दोलन ने आघात किया परन्तु उसका स्थान राजा ने ले लिया। राजाओं ने अपने सम्बन्ध में चार दावे किये —[3]

(१) राजतन्त्र ईश्वरीय है।

(२) राजा का अनुवंशत्व स्वतः सिद्ध है।

(३) राजा केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है किसी संसद के प्रति नहीं।

(४) प्रजा का कर्त्तव्य है कि राजा की सभी आज्ञाओं का पालन करे तथा उनका प्रतिकार न करे।

परिणाम स्वरूप १७वीं एवं १८वीं सदी के यूरोपीय विचारकों ने राजा के इस देवतत्व को मान्यता का विस्तार प्रजाहित की सीमा से भी बाहर जाकर किया। पोप ग्रेगरी ने कहा कि दुष्ट राजा से भी ईश्वर के अतिरिक्त कोई जवाब तलब नहीं कर सकता क्योंकि वह देवता का अंश है। ब्लेकस्टोन को तो यहाँ तक अभीष्ट था। कि राजा से कार्यों में तो क्या विचारों में भी गलती नहीं हो सकती। बोसुये और काल्विन आदि भी इसी मत के थे कि नीच राजा की आज्ञा भी सदैव माननी चाहिये इंग्लैण्ड के शासक जेम्स प्रथम का मत था कि प्रजा राजा को दण्ड देने को अधिकारिणी नहीं हो सकती क्योंकि राजा का अधिकार प्रजा को दण्ड देना है न कि प्रजा

१. Dr. K. P. Jayaswal, Hindu Polity, भाग १ पृष्ठ १०

२. Dr. R. G. Majumdar, Corporate life in Anc. India, pp. 107-110

३. डा० अल्तेकर, प्रा० भा० शासन पद्धति, पृष्ठ ७८

का राजा को।[1] इस प्रकार यूरोप में राजा के दवत्व का सिद्धांत निरंकुश राजतंत्र के समर्थन के लिए प्रतिपादित किया गया था।

प्राचीन भारत में भी राजा के देवत्व की धारणा विद्यमान थी परन्तु उसका स्वरूप यूरोप में मान्य राजा के गेवत्व से भिन्न था।

प्राचीन भारत में राजा के देवत्व का विकास

वैदिक काल

पूर्व वैदिक युग में राजा के देवत्व की भावना का पूर्ण विकास नहीं हो पाया था परन्तु कुछ ऐसे उदाहरण प्राप्त हुए हैं जिनसे राजा के देवत्व पर प्रकाश पड़ता है। ऋग्वेद् के एक स्थल पर पुरुकुत्स को अर्धदेव कहा गया है। अथर्ववेद में राजा परीक्षित को मनुष्यों के मध्य देवता कहा गया है।

"यो देवो मर्त्यान् अधि"

डा० अलतेकर ने कहा कि इन दो उदाहरणों के आधार पर पूर्व वैदिक युग राजा के देवत्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता है। ऋग्वेद में पुरुकुत्स को अर्धदेव इसलिये कहा गया कि विधवा माँ ने इन्द्र और वरुण के प्रसाद मात्र से पुरुकुत्स को प्राप्त किया था। जहाँ तक परीक्षित को देवता कहा गया है यह कुछ राजाओं की प्रशंसा मात्र है। परन्तु राधा कृष्ण चौधरी का मत है कि पूर्व वैदिक युग में राजा के देवत्व को सिद्ध भी किया जा सकता है और नहीं भी। यजुर्वेद में राजा को वैष्णावन कहा गया है अर्थात राजा को विष्णु की विभूति दी गयी है। इसके आधार पर राधा कृष्ण चौधरी का विचार है कि यहाँ पर राजा बिष्णु का अवतार माना गया है। परन्तु इस युग में अवतार की अवधारणा विकसित नहीं हो पायी थी अतः चौधरी के विचारों से सहमत हो पाना कठिन है।

ब्राह्मण युग में राजा को देवत्व की धारणा को बल प्राप्त हुआ। राजा को इन्द्र की उपाधियों से अलंकृत किया गया। शतपथ ब्राह्मण, ऐतिरेब ब्राह्मण आदि से ज्ञात होता है कि अभिषेक संस्कार के बाद राजा देव हो जाता है क्योंकि विभिन्न देवगण उसके शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं। ब्राह्मण काल में पुरोहित अपने को भी देवता कहते थे अतएव इन ब्राह्मणों ने अपने संरक्षक राजा को भी देवता कहा वैदिक युगीन राजा के बारे में विचार व्यक्त करते हुए ए० के० सेन ने कहा है कि वैदिक राजतंत्र एक मानवीय संस्था है और इसके विपरीत नहीं हो सकता जब राजाओं का निर्वाचन होता था उन्हें पदच्युत भी नहीं किया जा सकता था।

---

१ उक्त सभी मत डा० अल्तेकर की 'प्रा० भा० शासन पद्धति' में आये उद्धरण के आधार पर दिये गये।

'Th: vedic kingship is a human institution and it cannot be otherwise, when kings are selected and can be deposed'

कौटिल्य ने भी राजा को परमदेव कहा है उनके अनुसार राजा यम और इन्द्र का स्थानीयक है क्योंकि दया और कोप राजा में विद्यमान हैं। कौटिल्य ने अपने समय की मूढ़ जनता में राजा के देवत्व का प्रचार इसलिए किया ताकि प्रजा में राजा के प्रति भक्ति और विश्वास पैदा हो सके।

रामायण तथा महाभारत में भी राजा को देवता कहा गया। रामायण के अनुसार राजा मनुष्य के रूप से पृथ्वी पर विचरण करता है अतः उसकी हिंसा, निन्दा तथा उसका तिरस्कार नहीं करना चाहिये क्योंकि राजा देवता हैं। रामायण में राजा को इन्द्र का चौथा भाग कहा गया है—इन्द्रस्यैव चतुर्थः भागः। महाभारत में कहा गया है कि यह जानकर कि राजा मनुष्य है उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिये वह पृथ्वी पर महती देवता है।

प्रथमशती में कुषाणों के आगमन ने भारत में राजा के देवत्व को और अधिक बल दिया। कुषाण अपने को देवता कहते थे। सिक्कों पर कुषाण राजाओं को अग्नि ज्वालाओं से आवृत्त पाते हैं, राजाओं की आवृत्तियों को बादलों के मध्य प्रदर्शित पाते हैं। पल्लव राजा गुदुफर को 'देवव्रत' कहा गया है। गुप्त युग में राजाओं को देवता माना गया है। प्रयाग प्रशस्ति में समुद्रगुप्त को अचिन्त्य पुरुष कहा गया है। परशुधारी प्रकार की सोने की मुद्राओं पर प्राप्त लेख में राजा समुद्रगुप्त को 'कृतान्त' कहा गया है। 'अचिन्त्य' ईश्वर का प्रतीक है और 'कृतान्त' यम को कहा गया है।

पुराण तथा स्मृति साहित्य में भी राजा को देवता कहा गया है। मत्स्यपुराण में कहा गया है कि न्यायपूर्वक दण्ड के प्रणायन के लिए स्वयम्भू ने देवों के अंशों से राजा की सृष्टि की। भागवत पुराण में राजा वेण के शरीर में विष्णु लांछन बताए गए हैं मनुस्मृति मे कहा गया है कि राजा का निर्माण इन्द्र, यम, अग्नि आदि देवताओं के अंशों से हुआ है।

पूर्व मध्य युग में राजा को ईश्वर का अवतार मान लिया गया। गहडवाल वंश के लेखों में राजा चन्द्र तथा गोविन्दचन्द्र को का क्रमशः ब्रह्मा व हरि का अवतार कहा गया है। पृथ्वीराज विजय में राजा पृथ्वीराज तृतीय को 'राम' का अवतार कहा गया है। अवतारवाद की जड़े मजबूत होने के बावजूद भी अधिकांश स्मृतियों और पुराणों में देवताओं और राजा के कार्यों की समता दिखाई गयी है। नारदस्मृति मत्स्य पुराण, मार्कण्डेय पुराण, अग्नि पुराण, पद्म आदि पुराणों से ज्ञात होता है कि राजा अपने तेज से दुष्टों को भस्म करता है इसलिए वह अग्नि के समान है। वह

अपने चरों से सब जान लेता है। अतः वह सूर्य के समान है योग्य लोगों को पुरस्कार देता है अतः वह कुवेर के समान है। परन्तु ईश्वर का साक्षात अवतार केवल थोड़े ही स्मृतिकारों ने माना है।

देवत्व का उद्देश्य एवं स्वरूप—

राजा को सभी वर्णों को स्वधर्म से स्थिर रखना था, उसे दण्ड का सम्यक प्रतिपादन करना था। इन कार्यों के लिए राजा का शक्तिशाली होना आवश्यक था फलतः ग्रंथकारों ने राजा के देवत्व की भावना प्रतिपादित की।[1] "The writers... ......wanted a strong king to preserve the Social order, therefore, the king was raised to divinity and absoluted obedience to his orders was demanded. परन्तु यूरोपीय विचारकों की भाँति भारतीय ग्रंथकारों को निरंकुश राजतंत्र अभीष्ट नहीं था। नारद एकमात्र ऐसे ग्रन्थकार हैं जिन्होंने कहा कि दुष्ट राजा पर भी प्रहार करना पाप है क्योंकि उसमें देवता का अंश है अन्यथा सभी ग्रन्थकारों ने ऐसे राजाओं के विद्रोह को ही नहीं वरन् उसकी हत्या की भी छूट दी। दुष्ट राजा वेण को ऋषियों ने मार डाला। शुक्रनीति में शोषण करने वाले अधार्मिक राजा को राक्षस कह कर सम्बोधित किया।

'यो हि धर्मपरो राजा देवांशोऽन्यश्च रक्षसाम्।' (शुक्र १/७०) मनु ने भी कहा कि प्रजा का शोषण करने वाला राजा अपने जीवन परिवार एवं राज्य सभी से वंचित हो जाता है। महाभारत के अनुशासन पर्व में स्पष्ट कहा गया है कि "प्रजा को उठ खड़ा होकर उस क्रूर शासक की हत्या कर देनी चाहिये जो रक्षा करने में असमर्थ हैं, करों का शोषण करता है तथा जिसमें नेतृत्व का अभाव है।' (महा, ६१| ३२ ३३)। तैत्तिरीय एवं शतपथ ब्राह्मणों में राजा के देश निष्कासन के भी उल्लेख हैं। शुक्र आदि सभी स्मृतिकारों ने अधार्मिक, क्रूर एवं अक्षक राजा को पदच्युत एवं निष्कासित करने का निर्देश दिया है।

इस प्रकार भारत में यूरोप के विपरीत देवत्व की भावना ने राजा के उत्तर-दायित्वों को और अधिक गभीर एवं गुरुतर बना दिया। यूरोप में देवत्व ने राजा को निरंकुश बनाया परन्तु भारत में उसे देवों के समान प्रजा हितकारी, उदार एवं धर्मपरायण बनाकर राजतन्त्र को कल्याणकारी रूप (welfare state) प्रदान किया।

क्या राजतंत्र निरंकुश था ?

राज्य के सप्तांगों में राजा को हिन्दू चिंतकों ने 'मूल' अथवा 'शीर्ष' स्वीकार किया है। चिंतकों ने उसे देवत्व दिया। उसका अपमान वर्जित बताया है। नारद

1. —P. V. Kane, History of Dharmasastras; Vol. 3 P. 27

के अनुसार वह देवता है, उसका अपमान नहीं करना चाहिए भले ही वह नाबालिक अथवा दुष्ट ही क्यों न हो। जैसा कि हम उपर्युक्त विवेचना कर चुके हैं कि केवल धार्मिक राजाओं को ही देवता माना गया है शुक्र ने तो दुष्ट राजाओं को राक्षस कहा है। आधुनिक युग की भाँति प्राचीन भारत में ऐसी कोई भी व्यवस्थापिका नहीं थी जिसके द्वारा राज्य के सर्वोच्च अधिकारी को दण्ड अथवा 'इम्पीच' किया जा सकता परन्तु हमारे चिंतकों ने कुछ ऐसी व्यवस्था की जो राजा की निरंकुशता पर अंकुश का कार्य करती थी।

(१) सभा तथा समिति :

वैदिक काल में सभा तथा समिति सम्प्रभु सम्पन्न संस्थायें थीं। राजा का अस्तित्व समिति पर निर्भर था। जैसा कि हम प्रतिनिधि संस्थाओं के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचना करेंगे कि समिति राजा को पदच्युत कर सकती थी। राजा को पुनः सिंहासन रूढ़ कर सकती थी। अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि राजा की सदैव यह इच्छा रहती थी कि समिति के सदस्य सदैव राजा के पक्ष में रहे ताकि उसकी स्थिति सुदृढ़ बनी रहे। इस प्रकार वैदिक युगीन राजा पर सभा तथा समिति का अंकुश रहता था।

(२) मंत्रीपरिषद :

वैदिक संस्कृति के ह्रास होते ही सभा तथा समिति जैसी संस्थायें राजनैतिक क्षितिज में अस्त हो गई। इनके स्थान पर मंत्रिपरिषद ने जन्म ले लिया। महाभारत अर्थशास्त्र कामन्दक आदि के द्वारा मंत्रिपरिषद का महत्व हमें ज्ञात होता है। शुक्र ने ऐसे राजाओं को चोर कहा है कि जो मन्त्रियों से मन्त्रणा नहीं लेते हैं। परन्तु हमें ज्ञात है कि मंत्रियों की नियुक्ति राजा ही करता था। राजा को अच्छी न लगने वाली बात पर मन्त्रियों को राजा द्वारा पदच्युत किया जा सकता था। परन्तु भारतीय मनीषियों ने इस बात पर सदैव बल दिया है। कि राजा को सदैव मंत्रियों से मंत्रणा लेनी चाहिए। कभी-कभी प्राचीन भारत प्रभावशाली मंत्रियों का उल्लेख मिलता है जो राजा की नियुक्ति तक कर सकते हैं। उदाहरण के लिए मोखारि शासक गृहवर्मा की मृत्यु के बाद जब कन्नौज का राजसिंहासन रिक्त हुआ तो मंत्रियों ने हर्ष को कन्नौज का राजपद सौंपा। कामंदक कहते हैं कि जो राजा मंत्रियों की राय की अवहेलना करता है वह नरकगामी होता है। कौटिल्य के अनुसार राज्य रूपी रथ के दो चक्र राजा और मंत्री होते हैं। सामान्यतः यह स्वीकार किया जा सकता है कि अच्छे चरित्रवान राजा सदैव मंत्रियों की राय मानते थे। इस प्रकार मंत्रिपरिषद राजतंत्र पर अंकुश का कार्य कर सकती थी। डॉ० काशी प्रसाद जायसवाल के अनुसार राजा मंत्रिपरिषद् का परतंत्र था।

एन. सी. बंद्योपाध्याय के अनुसार, प्राचीन भारतीय राजा न तो देवत्व का दावा कर सकता था और न ही उसे कोई विशेषाधिकार प्राप्त थे देवत्व की निर्बलता चिंतकों के विचारों में ध्वनित होती है जब वे निरंकुश राजा को पदच्युत और मार देने को न्याय संगत करार देते हैं।

"In ancient India the king could neither claim divinity, nor he hed any prerogatives, Tne utter weakness of the divinity theory is demonshated by the viewsoy thinkers who justify the expulsion or desteuction of a tyrant.

इसी संदर्भ में हम मैसन आडर्सेल के विचारों को भी उद्धृत कर सकते हैं। राजतंत्र मानवीय संस्था है और देवी अधिकारों के लिए दावा भी नहीं करता है। केवल राजाओं तथा देवताओं के मध्य सदृश्यता है।

"kingship is a purely human iostitution, and claims no divine right, There is only an anology between gods and kings."

(३) स्वर्ग तथा नरक का भय :

राजा के सम्मुख व्यवस्थाकारों ने स्वर्ग और नरक की अवधारणा रखी थी। यह राजा पर एक प्रकार से नैतिक अंकुश का कार्य कर रही होगी। अच्छे तथा धर्मधृत राजा स्वर्ग की प्राप्ति करेंगे जबकि नहुष की भाँति दुष्ट राजा नरकगामी होंगे।

(४) धर्म की अवधारणा :

हिन्दू राजशास्त्र की अनोखी अवधारणा 'धर्म तथा दण्ड' की थी। वैदिक युग से ही राजा को धर्म का रक्षक माना गया है। वृहदारण्यक उपनिषद के अनुसार धर्म से बढ़कर कुछ दूसरी चीज नहीं है अतः धर्म का पालन राजा का नित्य और आवश्यक कर्त्तव्य था।

तदेतत्क्षत्रस्य क्षत्रं यदर्मस्तस्मा दर्मात्जरं नास्ति। महाभारत से ज्ञात होता है कि प्रथम राजा वेण ने शपथ ली थी कि श्रुति स्मृतियों में जो धर्म कहा गया है वह उसका पूरा पालन करेगा और कदापि मन मानी न करेगा।

अतः यह कहा जा सकता है कि धर्म परायण राजा स्वेच्छारी नहीं बन सकता था।

(५) शपथ :

ब्राह्मण साहित्य से ज्ञात होता है कि राजा अभिषेक संस्कार के समय शपथ लेता था कि जिस रात्रि मेरा जन्म हुआ है और जिस समय मेरी मृत्यु होगी इसके

मध्य उसने जो भी पुण्य अर्जित की है। वह सभी नष्ट हो जाय यदि वह प्रजा विरुद्ध कोई कार्य करे।

इस शपथ के आलोक में ऐसा माना जा सकता है कि राजा अपनी स्वेच्छारी भावनाओं को प्रजा पर नहीं थोपेगा।

(६) राजा के आदर्श :

प्राचीन भारतीय मनीषियों ने राजा के सम्मुख आदर्श रखे थे। इन आदर्शों की विस्तृत व्याख्या ऊपर की जा चुकी है। आदर्श राजा से कभी भी निरंकुशता की कल्पना नहीं हो सकती है।

(७) शिक्षा :

व्यक्ति में शिक्षा के अभाव में समुचित संस्कारों का विकास नहीं हो सकता है, फलतः उसमें स्वेच्छारिता और निरंकुशता के बीज अंकुरित हो सकते हैं। शास्त्रकारों ने बाल्य और किशोरावस्था में राजकुमारों की शिक्षा और संस्कार पर बड़ा बल दिया है। उन्होंने राजा को विनयी, शांत, सदाचारी और धार्मिक बताया है। राजा को मृदुभाषी, शिष्ट, गुरुजनों की अभ्यर्थना में उत्सुक, सत्संगति का प्रेमी तथा लोकमत को ध्यान देने वाला होना चाहिए। शिक्षा और संस्कार द्वारा जिस राजा में उपर्युक्त गुणों का विकास होगा वह कदापि प्रजा को पीड़ित नहीं कर सकता है। कौटिल्य ने कहा कि राजा को अनुवीक्षिकी, त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति में निपुण होना चाहिए। कौटिल्य का मत है कि यथायोग्य शिक्षा राजा को शिष्ट तथा विधि पालक बनाती है।

यदि राजा की मंत्रिपरिषद्, की बात नहीं मानता है। उसे स्वर्ग तथा नरक का भय नहीं है, धर्म का पालन वह नहीं करता है, आदर्शों तथा शपथ का पालन नहीं करता है और शिक्षा उसे शिष्ट बनाने में असफल रही है। अतः राजा स्वेच्छाचारी है तब हमारे शास्त्रकारों ने कौन सी व्यवस्था की है जिससे उसकी निरंकुशता पर रोक लगायी जा सके।

(८) प्रजा द्वारा विरोध :

हमारे प्राचीन चिंतकों ने अत्याचारी राजा के सम्मुख प्रजा का आत्म-समर्पण वर्जित माना है। उन्होंने अत्याचार का प्रतिरोध करना प्रजा का कर्त्तव्य माना है। महाभारत में कहा गया है कि अत्याचारी और दुष्ट राजा को पागल कुत्ते की भाँति मार देना चाहिए। अलतेकर का मत है कि शास्त्रकारों ने 'इसका विवेचन नहीं किया है कि प्रतिरोध कब उचित है और उसका रुप या उसकी सीमाएं क्या हो? संभव है उन्हें आशंका रही हो कि इस विषय पर खुलकर चर्चा करने से अराजकता को उत्तेजना मिले।'

(९) राज्य त्याग की धमकी :

शुक्र के अनुसार प्रजा को चाहिये कि वह अत्याचारी राजा को चेतावनी दे यदि राजा अपना व्यवहार नहीं बदलता तो प्रजा उसका राज्य छोड़कर दूसरे सुशासित राज्य में चली जाएगी। अतः राज्य त्याग द्वारा कर हानि के डर से राजा सुधार सकता है।

अधर्मशीलो नृपतिर्यदा तं भीषयञ्जनः।
धर्मशीलातिबल वद्विपोराश्रयतः सदा ॥

(१०) प्रशासन का विकेन्द्रीकरण :

प्राचीन भारत में साम्राज्य विशाल थे। सामान्यतः राष्ट्र को प्रशासन की सुविधा की दृष्टि से छोटी-छोटी इकाइयों में बाँटा गया था। आधुनिक युग की भाँति यातायात तथा संचार व्यवस्था प्राचीन युग में अधिक स्वस्थ नहीं थी। अतः प्रशासन का विकेन्द्रीकरण अनिवार्य हो गया था। 'नगर' तथा 'ग्राम' स्वात्यशासी संस्थायें थीं। ग्राम सभायें सशक्त थी। ग्रामसभा, ग्रामकी जनता से सीधे सम्पर्क रखती थीं। केन्द्र जनता को कभी भी प्रत्यक्ष रुप से प्रभावित नहीं कर सकता था। ये स्थानीय संस्थायें केन्द्र की नीतियों से प्रजा की रक्षा करती थी। इस प्रकार विकेन्द्रीकरण भी निरंकुशता पर अंकुश था।

अध्याय ५

प्रतिनिधि संस्थाएँ

(अ) सभा और समिति

सभा और समिति का वर्णन वैदिक साहित्य में मिलता है; परन्तु प्राचीन ग्रंथ में कहीं भी उनके सापेक्षिक महत्व को नहीं बताया गया है। अथर्ववेद में उन्हें प्रजापति की दो पुत्रियाँ कहा गया है।[1] डॉ० अल्तेकर का मत है कि इसकी सम्भावना है कि वैदिक भारत के विभिन्न भागों में अथवा विभिन्न समय या शताब्दियों में इन शब्दों का प्रयोग विभिन्न दृष्टिकोण से हुआ था।[2] 'It is give possible that these terms were used in different senses in the different parts of Vedic India or in different aecades or centuries डॉ० अल्तेकर State And Government in Ancient India. डॉ० सालेटोर के अनुसार अथर्ववेद का यह कथन कि सभा और समिति प्रजापति की दो पुत्रियाँ हैं, यह और प्रदर्शित करता है कि हमें दोनों को बराबर महत्व देना है, परन्तु उनका सापेक्षिक महत्व क्या था ? निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है।

'The statement in the Atharvaveda that she Sabba and Samiti were the two daughtere or Prajapati. clearly seows that we have to give the same importance to both, although it cannot be made out what exactly was their relative importance'.

सभा और समिति का संगठन—

आधुनिक विद्वानों में सभा और समिति के संगठन के बारे में मतभेद हैं।

सभा—महोदय लुडविग के अनुसार सभा द्वितीय सदन की भाँति थी जहाँ पुरोहित और धनाढ्य वर्ग प्रतिनिधित्व पाते थे, अर्थात उनके अनुसार यह जनसाधारण

१, सभा च मां समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने। अथर्ववेद, ७, १२, १

२. एन्शियन्ट इण्डियन पालिटिकल थाट एण्ड इन्स्टीट्यूशनस पृ० ३६०।

की परिषद् नहीं थी। जिम्मर का कहना है कि यह ग्राम सभा अथवा परिषद् के मिलने का स्थान था। जिसकी अध्यक्षता ग्रामिणी करता था। डॉ० सालेटोर ने उसका खण्डन किया है। उनके अनुसार शतपथ ब्राह्मण में सभा उच्च वर्ग के लोगोंकी परिषद् थी अतः ग्राम सभा, समिति से कोई अलग संस्था नहीं थी वरन् समिति के अधिवेशन स्थल का ही नाम सभा था। डॉ० एन० सी० बन्धोपाध्याय के अनुसार एक सभा कौटुम्बिक संस्था (an assocation of kinsfolk) थी जिनमें व्यक्ति रक्त सम्बन्ध अथवा स्थानीय सानिध्य बँधे हुये थे ("an assocation of men bound together either by ties of blood or local contiguity")। यह एक केन्द्रीय कुलीनतन्त्रात्मक जनसमूह थी जो कि राजा से सम्बन्धित थी इस प्रकार इसे राजनैतिक परिषद् "The Political Council" कहा जा सकता है। डॉ० का० प्र० जायसवाल ने अपना मत प्रकट किया कि समिति से यह अवश्य सम्बन्धित थी परन्तु इसके वास्तविक सम्बन्ध को उपलब्ध सामग्री के आधार पर नहीं जाना जा सकता है। उनके अनुसार समिति के आधीन कार्य करने वाली चुने हुए लोगों की एक प्रतिष्ठित और स्थायी संस्था थी।[1] प्रोफेसर घोषाल इस मत से सहमत नहीं हैं क्योंकि किसी अन्य प्रमाण से इसकी पुष्टि नहीं होती है।[2] डॉ० काणे संदेह प्रकट करते हैं कि सभा निर्वाचित संस्था थी। उनके अनुसार डॉ० जायसवाल की यह एक धारणा मात्र है। डॉ० अल्तेकर ने सभा के बारे में अपना मत अन्य विद्वानों से भिन्न प्रकट किया है। तैत्तिरेय ब्राह्मण[3] और ऋग्वेद[4] के आधार पर डा० अल्तेकर का कथन है कि सभा मुख्यतः गांव की सामाजिक गोष्ठी ही थी परन्तु आवश्यकता पड़ने पर ग्राम व्यवस्था से सम्बन्ध रखने वाले छोटे-मोटे मामले पर भी इसी में विचार कर लिया जाता था।[5]

समिति—महोदय लुडविग के अनुसार समिति की तुलना आधुनिक लोकसभा (प्रथम सदन-lower house) से की जा सकती है। जहाँ जन साधारण का प्रतिनिधित्व होता था। जिम्मर के अनुसार सम्पूर्ण जाति की केन्द्रिय परिषद् थी।

---

१. जायसवाल का० प्र० डा० हिन्दू पॉलिटी, पृ० १८, It was the standing and stationary body of selected men working under the authority of samiti.' जायसवाल जी के अनुसार सभा का अध्यक्ष सभापति होता था।

२. घोषाल, यू० एन० स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर पृ० ३५३।

३. तैत्तिरेय ब्राह्मण १, १, १०, ६ देखिए शतपथ ब्राह्मण, ५, ३, १, १०।

४. ७, २८, ६, १०, ३४, ६।

५, State and Government in Ancient India-पृ० १४२

डॉ० वी० एम० आप्टे का मत है कि ऋग्वेद में सभा और समिति में अन्तर कर पाना कठिन है। उसके अनुसार, जातीय (राजनीतिक) विषयों को तय करने के लिए समिति लोगों के विशाल समूहों को परिषद् थी (an assembly of larger gro-ups of people for the discharge of tribal (i e. Political) busjness). डॉ० एन० सी० बन्द्योपाध्याय के अनुसार यह समाज के समस्त लोगों का जन। समूह था (samiti was a gathering of the whole folk of the comm-unity) राष्ट्र की परिषद थी (the assembly of tha restra)। राजा से इसका गहरा सम्बन्ध था। डा० काशी प्रसाद जायसवाल के अनुसार समिति सम्पूर्ण विश्व की राष्ट्रीय परिषद थी।[1] उन्होंने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा कि राजा समिति में उपस्थित होता था। लोग राजा का निर्वाचन और पुनर्विचार करते थे। [2] ऋग्वेद के एक उदाहरण[3] को लेकर वह अपने मत का प्रतिपादन करते हैं कि राजा का समिति में उपस्थित होना पुनीत कर्तव्य था (राजा न सत्यः समतोरि-यान:)। अगर राजा समिति में उपस्थित नहीं होता था तो वह असत्य समझा जाता था। उनके अनुसार समिति का संगठन प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त पर निर्भर करता था जहाँ ग्राम इसकी इकाई होती थी। डा० सालेटोर के अनुसार जायसवाल जी का मत केवल उनके दिमाग की दौड़ है। उन्होंने (जायसवाल) अनुमानों की विशाल रचना का निर्माण किया है जो कि आलोचनात्मक छान-बीन पर खड़ी नहीं हो सकती।[4]

डॉ० यू० एन० घोषाल भी डा० काशी प्रसाद जायसवाल के इस मत से सहमत नहीं हैं कि समिति का संगठन प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त पर आधारित था और गाँव इसकी इकाई थी। महोदय घोषाल द्वारा प्रस्तुत किये गए तर्क निम्नलिखित हैं :

(१) यह कथन, कि 'ग्रामणी', राजसूय के रत्न हविंषि संस्कार में कार्य करता हुआ, एक प्रतिनिधि-व्यक्ति "representive persone" था, एक अच्छी कल्पना है, क्योंकि इसकी भी समान रूप से सम्भावना है कि ग्राम अथवा नगर से सम्बन्धित था जहाँ राजमहल स्थित था।

---

१. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ १२ The Samiti was the national assembly of the whole people or Visah.'

२, उपर्युक्त, पृष्ठ १२

३. ऋग्वेद, ९, ९२, ६ तुलना कीजिये ऋग्वेद, १०, ९७, ६

४. सालेटोर, वही, पृष्ठ ४०० "He has merely erected a super structure of suppositions which cannot stand scrutiny.'

(२) जायसवाल जी ने अथर्ववेद[१] को उद्धृत किया है। इसमें 'संग्राम' का अर्थ एकत्रित समिति नहीं है। 'संग्राम' और समिति एक दूसरे के सानिध्यता में हैं।

(३) वेदों में वर्णित गाँव एक सामूहिक इकाई के रूप में निश्चित पूर्वक यह नहीं प्रदर्शित करते कि एंग्लो-सैक्सन जन-वाद विवाद (Anglo-Saxon Folkmoot) की भाँति एक जन-परिषद् में स्थानीय प्रतिनिधि थे।[२]

डॉ० अल्तेकर के अनुसार समिति केन्द्रीय सरकार की राजनैतिक परिषद् थी।[३] उनके अनुसार समितियाँ सम्भवतः कुछ सैन्य और कुलीन परिवारों के शीर्षो का संगठन थी जिन्हें समाज के राजनैतिक सामाजिक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।[४] वह पुनः अपना मत व्यक्त करते हैं कि वैदिक युग में पुरोहितों का महत्वपूर्ण स्थान था, अतः उनका भी समिति में प्रतिनिधित्व होता रहा होगा।[५]

सभा और समिति के कार्य—

सभा :—अथर्ववेद के एक मंत्र के आधार पर डॉ० जायसवाल का कथन है कि सभा का प्रस्ताव सब लोगों पर बाध्य और अलंघनीय था।[६] सभा में स्वतन्त्र रूप से विचार विमर्श होता था।[७] सभा न्यायपालिका सम्बन्धी कार्यों को भी करती थी। सभा राष्ट्रीय न्यायालय थी। शुक्ल यजुर्वेद के 'पुरुषमेध' में 'समाचार' शब्द मिलता है। इसका अर्थ व्यक्ति जो सभा को आ रहा हो जाता है। इसे 'धर्माय समाचरम्' कहा गया है, अतः वह धर्म (न्याय) का आचरण करने वाला था। वैदिक इन्डेक्स का लेखक इसका अर्थ न्याय निर्धारक बतलाता है ऋग्वेद[८] में एक स्थल पर बताया गया।

---

१. अथर्ववेद, ७.१२.१, १२.१.५६, 'ये सग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते'

२. स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० ३५३,

३. स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियंट इण्डिया, पृ० १४३—'a political assembly of central government'

४. उपर्युक्त, पृ० १४४,—the samitis probably consited of the heads of the few military and aristocratic families which occupied a prominent position in the political and social life of the community.'

५. उपर्युक्त, पृ० १४४.

६. हिन्दू पालिटी, पृ० १६, 'a resolution of the Sabha was considered binding on all and inviolable'

७. उपर्युक्त, पृ० ६

८. सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन सभा साहेन सख्या सखायः।
किल्बिषस्पृत्पितुषणिर्ह्येषामरं हितो भवति वाजिनाय॥
ऋग्वेद, १० ७१.१०.

है कि एक व्यक्ति का मित्र सभा से सफलतापूर्वक लौटा है, वह दोषों से मुक्त और प्रसन्न है।

डॉ० एन० सी० बन्द्योपाध्याय के अनुसार सभा राजा के आस-पास केन्द्रीय कुलीनतंत्रात्मक जनसमूह थी और राजा की परामर्श वाली संस्था थी। एक न्यायिक परिषद् के रूप में कार्य करती थी।

डा० जायसवाल के मत की आलोचना—

विद्वान डा० जायसवाल जी के इस मत से सहमत नहीं हैं कि सभा का प्रस्ताव सब लोगों पर बाध्य और अलंघनीय था। यह अथर्ववेद[1] के अकेले उद्धरण की व्याख्या पर निर्भर करता है। यहाँ कवि ने सभा को नरिष्टा के रूप में सम्बोधित करते हुए प्रार्थना की है कि वे सब लोग जो अधिवेशन में एकत्रित होकर भाग ले रहे हैं उनके भाषण में समन्वयता रहे। सायण टीकाकर के आधार पर जायसवाल जी ने अपने मत का प्रतिपादन किया है कि कई लोगों के प्रस्ताव को तोड़ा या उल्लंघन नहीं किया जा सकता है। डा० घोषाल के अनुसार यदि जायसवाल समिति को राज्य में सम्प्रभु संस्था सोचते है तो प्रस्ताव की बाध्यता और उलंघनीय विशेषता सभा को कैसे हो सकती है ?[2] इसके अतिरिक्त सभा के न्यायिक कार्यों के विषय की महोदय घोषाल ने निम्नलिखित आलोचना प्रस्तुत की है।

(अ) ऋग्वेद में शब्द किल्विषस्पृत' सभा में विजयी व्यक्ति के लिए प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ जायसवाल ने दोषों से मुक्त बताया है। परन्तु इसकी व्याख्या लुडविग महोदय ने बहुत पहले पूर्ण रूप से कर दी थी, उन्होंने इसका अर्थ किसी व्यक्ति को वध के अभियोग से बंधे हुए दोष से मुक्ति दिलाना बताया।

(ब) शुक्ल यजुर्वेद के 'पुरुषमेध' में समाचार शब्द मिलता है, इसका अर्थ न्याय निर्धारक (जज) लगाया जाता है, परन्तु वेदों में जजों का कोई उल्लेख नहीं हुआ है।[3]

डा० एन० सी० बन्द्योपाध्याय की आलोचना करते हुए डा० सालेटोर ने कहा है कि उनके कथनों की पुष्टि थोड़े से उपलब्ध साक्ष्यों द्वारा नहीं की जा सकती है।[4] "The assumptions that the Sabha was a central aristocratic gathering around the king and that it was also an advistory body to the king. are too far fetched. Statements which cannot be substantiated by the meagredata relating to the Sabha in the ancient works.'

---

१. अथर्ववेद ७।१२।२.

२. स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एन्ड कल्चर, पृष्ठ २५६.

३. उपर्युक्त; पृष्ठ २५७.

४. सलेटोर, वही पृष्ठ २६३

डा० अल्तेकर का मत है कि 'सभा मुख्यतः गाँव की सामाजिक गोष्ठी थी, परन्तु आवश्यकता पड़ने पर ग्राम व्यवस्था में सम्बन्ध रखने वाले छोटे-मोटे मामलों पर भी इसी में विचार कर लिया जाता था। आपसी झगड़े निपटाना और जातीय रक्षा का प्रबन्ध करना ही मुख्य विषय थे, पुरुषमेध यज्ञ के वर्णन से पता चलता है कि सभा और सभाचारों का न्यायदान से घनिष्ठ सम्बन्ध था। संभव है कि कुछ राज्यों या प्रदेशों में 'सभा' का सम्बन्ध राजा से था और वह सामाजिक गोष्ठी नहीं वरन् राजनीतिक संस्था रही हो। अथर्ववेद के एक मन्त्र[1] में यमदेव के सभासदों (सभा-सदस्य) को राजसी पद दिया गया है और उस देव का प्राप्त पुण्य में से १६वाँ भाग को प्राप्त करने के हकदार बन'ए गये हैं। इसे आधार मानकर डा० अल्तेकर का कहना है कि यह तर्क करना सम्भव है कि, स्वर्गीय सभा की भाँति पार्थिव सभा के सदस्यों की स्थिति राजा की भाँति ऊँची थी और राजा को दिए गए राजकर और दशमांश में वे हिस्सा लेने का अधिकार रखते थे।[2] उनका अनुमान है कि सभा पार्थिव राजा की मंत्रिमंडल भी संभवतः हो सकती है क्योंकि ऋग्वेद में सभा सदस्यों के वर्णन से पता चलता है कि वे धनी थे और सभा को जाते समय पूरी साजसज्जा से अलंकृत होते थे—अश्व अथवा रथ पर सवार होकर जाते थे।[3] वह पुनः कहते हैं कि उपलब्ध साक्ष्यों का सामंजस्य यह प्रदर्शित करता है कि सभा प्रायः ग्राम थी जिसका अधिवेशन सामाजिक और राजनैतिक विषयों पर होता था।[4]

---

१. यद्राजानो विजभन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं यमस्वामी सभादः। अथर्ववेद, ३।१६।१.

२. 'It is possible to argue that the status of members of the terrestrial sabha, like that of the celestial one, was also almost as high as that of the king and that they too were entitled to receive a small share of the tithes and tributes that were paid to the ruler.'—स्टेट ऐण्ड गवर्नमेंट इन एन्शियन्ट इण्डिया, पृष्ठ १४२,

३. उपर्युक्त पृष्ठ १४२, अश्वी रथी सुरुप इद् गोमाँ इदिन्द्र ते सखा। ऋग्वेद ८।४।६.

४. 'The balance of available evidence, however, tends to show that the sabha was usually the village assembly, meeting for social as well as political purposes'—उपर्युक्त पृष्ठ १४२,

डॉ० सालेटोर ने अल्तेकर के मतों की समीक्षा करते हुए कहा है कि सभा का ग्राम परिषद के रूप में राजनैतिक कार्यों को करने के कोई भी चिह्न नहीं हैं। यह भी समझा नहीं जा सकता कि किस प्रकार मन्त्रिमण्डल में परिवर्तित हो गई। जहाँ तक सभा के सदस्यों की स्थिति का प्रश्न है वे राजा के बराबर बताए गये हैं और उन्हें भी राजकर और दशमांश में हिस्सा लेने का हक था। यह विचार प्राचीन ग्रन्थ द्वारा पुष्टि करने से भी अधिक प्रसिद्ध विद्वान की केवल कल्पनामात्र है।[1] क्या ग्राम-सभा के सदस्य कभी राज की स्थिति की बराबरी कर सके थे और उपर्युक्त विशेषाधिकारों के बारे में दावा किया था? इसे हम अधिक गम्भीरता से नहीं सोच सकते क्योंकि यह वास्तविकता की अपेक्षा अनुमान पर आधारित है।[2]

समिति—डॉ० एन० सी० बन्द्योपाध्याय का मत है कि राजा से इसका गहरा सम्बन्ध था, महत्वपूर्ण अवसरों जैसे राज्याभिषेक, युद्ध के समय और आपत्तिकाल में यह मिलती थी। सम्भवतः राजा को निर्वाचित करने और उसके कार्यों को स्वीकृत देने को समिति बुलाई जाती थी।

डॉ० जायसवाल के अनुसार समिति का महत्वपूर्ण कर्त्तव्य राजा का निर्वाचन करना था।[3] यह पदच्युत राजा का पुनः निर्वाचन कर सकती थी। संवैधानिक दृष्टिकोण से सम्प्रभु सस्था थी। अथर्ववेद में एक स्थल पर समिति की समन्वयता अर्थात् एकता के बारे में मन्त्र में प्रार्थना की गई है।[4] ऋग्वेद में भी प्रार्थना की गई है कि समिति में समानता रहे, समान मन्त्र रहे (राज्य विषयक मामलों में समान नीति—Common policy of state), समान उद्देश्य और समान चित्त रहे।[5] अतः डॉ० जायसवाल का कहना है कि समिति में राज्य के विषयों (मन्त्र) के बारे में विचार होता था।[6]

---

१. 'One cannot help feeling that the learned professor has imagined more than the ancient work warrant'—सालेटोर वही पृ० ३९५.
२. उपर्युक्त, पृ० ३९५.
३. नास्मै समितिः कल्पते, अथर्ववेद, ५.१९.१५
४. अथर्ववेद, ६.६४
५. ऋग्वेद, १०।१९१।३ समानो मन्त्रः समितिः समानी, समानं व्रत सह चित्त मेषाम्
६. हिन्दू पालिटी, पृ० १३

उपर्युक्त विवरणों के आधार पर डॉ० यू० एन० घोषाल का कहना है कि समिति बहुत महत्वपूर्ण सहायता करने में राजा को महान् सम्पत्ति थी।[1] समिति में राजा का उपस्थित होना अनिवार्य समझा जाता था। ऋग्वेद (९.९२.६)[2] के आधार पर जायसवाल ने निष्कर्ष निकाला कि समिति में उपस्थित होना राजा का कर्त्तव्य था अगर वह ऐसा न करता तो असत्य समझा जाता था।[3]

डॉ० सालेटोर ने जायसवाल द्वारा प्रतिपादित मतों की बड़ी बुरी तरह आलोचना की है, उनके अनुसार उपर्युक्त कल्पनाओं के बन्डलों में कुछ नहीं है जिसकी पुष्टि ऋग्वेद या अथर्ववेद अथवा परवर्ती साहित्य में किसी भी साक्ष्य द्वारा नहीं हो सकती।[4] डॉ० जायसवाल का निष्कर्ष कि समिति परवर्ती युग की उपज है आंशिक रूप से उनके सिद्धान्त की सतह को हिला देती है। यदि हम इसे मान लें तो प्रायः वैदिक युग में समिति का स्वरूप क्या था? क्या हम कल्पना करें कि प्रारम्भिक युग में निर्वाचन सिद्धान्त या वाद-विवाद जैसा कुछ नहीं था? यदि संवैधानिक दृष्टिकोण से समिति सम्प्रभु संस्था थी, तो उन प्रारम्भिक युगों में उनके संवैधानिक विचार क्या थे? ऋग्वेद और अथर्ववेद के मन्त्र जिन्हें जायसवाल ने उद्धृत किया है, क्या वे समिति से समन्वयता व एकता की इच्छा, समान व्रत और समान चित्त की ओर इङ्गित करते हैं और क्या उन्हें इसी प्रकाश में लेना चाहिए? अथवा क्या यह व्यवस्था करना सम्भव है कि साधारण मन्त्र लोगों में उन प्राग् युगों में कुछ प्रकार की एकता स्थापित करने की प्रार्थना मात्र हैं जब कि आर्य विदेशी भूमि में आकर बस गये थे और उन्हें अज्ञात परिणामों की समस्याओं का सामना करना पड़ता था? यदि समिति एक ही समय सम्प्रभुसंस्था और राष्ट्रीय विद्वान मंडली[5] थी तो किस अवसर पर

---

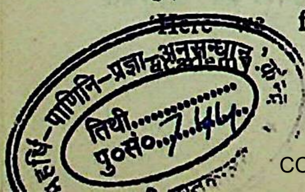
१. 'the samiti was sufficiently important to make its support a greatasset to the king'—स्टडीज इन इण्डिया हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० ३५५

२. राजा न सत्यः समितीरियान।

३. हिन्दू पालिटी, पृ० १३

४. 'There is nothing in the above bundle of suppositions, which can be supported by the available evidence either in the Rig-veda or in the Atharvaveda or in any of the later texts.'—सालेटोर वही, पृ० ३९९

५. हिन्दू पॉलिटी, पृ० १४. जायसवाल जी ने छान्दोग्य उपनिषद् (V. 3) और बृहदारण्यक उपनिषद्, (vi. 2) को उद्धृत करते हुए अनुमान किया कि, 'Here we find the Samiti acting as a sort of national



कार्य और किसी अवसर पर बौद्धिक कार्य करती थी ? इन प्रश्नों का जायसवाल जी का ग्रन्थ कोई समाधान प्रस्तुत नहीं करता है ।[१]

डॉ० अल्तेकर के अनुसार ऋग्वेद के अन्तिम मन्त्र में समिति का उल्लेख सामाजिक या विद्वान मण्डली के रूप में किया गया है,[२] परन्तु इसी ग्रन्थ के एक पहले मन्त्र में[३] वर्णन मिलता है कि राजनीतिक शक्ति को अपने हाथ में लेने के लिए एक नेता ने समिति को अपने वश में करने की योजना बनाई । डॉ० जायसवाल की भाँति ऋग्वेद को उद्धृत करते हुए डॉ० अल्तेकर ने बताया कि सच्चा राजा सदैव समिति में जाता । अथर्ववेद में एक पदच्युत राजा ने पुनः सिंहासनारूढ़ होने पर सबसे बड़ी आकांक्षा यही प्रकट की कि समिति सदैव उसकी ओर रहे ।[४] ब्राह्मण का धन अपहरण करने वाले राजा को सबसे बड़ा अभिशाप यही दिया जाता था कि समिति उसका साथ न दे ।[५] इन उद्धरणों के आधार पर डॉ० अल्तेकर ने सोचा कि समिति का सामाजिक गोष्ठी के रूप में उल्लेख हुआ है, परन्तु प्रायः केन्द्रीय सरकार में राजनीतिक परिषद् के रूप में वर्णन किया गया है ।[६] यह संस्था अत्यन्त प्रभावशाली थी, बहुधा इसी के समर्थन पर राजा का भविष्य निर्भर करता था । समिति के विरुद्ध हो जाने पर स्थिति अत्यन्त संकटपूर्ण हो जाती थी । खोये हुये राज्य को फिर से प्राप्त करने वाले राजा की स्थिति तब तक सुदृढ़ न मानी जाती थी जब तक समिति उससे सहयोग करने को तैयार न हो जाय स्पष्ट है कि राज्य के केन्द्रीय शासन और सेना पर समिति का बहुत अधिक प्रभाव था, पर व्यवहार में इसका उपयोग कैसे होता था ।

---

१. सालेटोर, वही, ३९९-४००.

२. संगच्छध्वं संवदध्वंसंवों मनांसि जानताम् ।
समानं मंत्रः समितिः समानी समानं मनः सहचित्तमेषाम ॥ (१०।१९१।२-३)
परन्तु 'समान मंत्रः······चित्तमेषाम्' पर जायसवाल ने सोचा कि समिति में राज्य के विषयों के बारे में विचार विमर्श होता था । हिन्दूपालिटी, पृ० १३. स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इन्डिया, पृ० १४२.

३. १०.१६६.४

४. ध्रुवाय ते समिति ः कल्पतामिह ।
अथर्ववेद, ६।८८।३.

५. नास्मै ः समिति ः कल्पते न मित्रं नयते वशम् ।
अथर्ववेद, ५।१९।१५.

६. स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इण्डिया, पृ० १४३

राजा के अधिकारों से इसका सामंजस्य किस प्रकार किया जाता था इसका हमें ज्ञान नहीं है। प्रसिद्ध विद्वान ने फिर बताया कि समिति में गहरा वाद-विवाद होता था, राजनीति मे नाम करने के इच्छुक नये सदस्य भाषण-कला में समिति को प्रभावित करने के लिये उत्सुक रहते थे।[1] समिति में सफलता उसी को मिलती थी जो अपनी वाक् चातुरी और तर्क बल से सदस्यों को अपनी ओर करले।[2] डा० अल्तेकर का मत है कि कभी-कभी दलबन्दी की तीव्रता होने पर गरमागरम बहस हो जाती थी और हाथा-पाई की नौबत हो जाती रही होगी,[3] इसीलिए ऋग्वेद[4] में यह प्रार्थना की गई है कि समिति की कार्यवाही सौहार्द्रपूर्ण हो, सदस्यों में मेल जोल रहे और उसके निर्णय एक मत से हों।[5] सालेटोर महोदय ने डा० अल्तेकर की आलोचना करते हुए कहा है कि उनके अनुमानों के महल तभी लड़खड़ा जाते हैं जब वह स्वीकार करते हैं कि उनके पास सिद्ध करने के लिये कोई साक्ष्य नहीं है कि केन्द्रीय सरकार के सैनिक और व्यवस्थापिका सम्बन्धी कार्यों को समिति कैसे नियन्त्रण मे करती थी ? और अल्तेकर महोदय पुन. कहते हैं, "हम इस महत्वपूर्ण संस्था के संविधान के बारे में पूर्णरूप से अंधेरे में हैं।"[6]

डा० यू० एन० घोषाल ने 'स्टडीज इन इंडियन हिस्ट्री और कल्चर', पृ० ३५५ पर शतपथ ब्राह्मण (vii. १.१.४) को उद्धृत कर अपने मत का प्रतिपादन

---

१. ये संग्रामा समितयस्तेषु चारु वदाम्यहम्

अथर्ववेद, १२ १.५३.

२. 'one could succeed in the Samiti only if one could capture the mind and sway the feelings of its members. स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियेन्ट इण्डिया, पृ० १४४

३. 'When there were parties in the Samits, the proceedings became enlivened and often bitter', स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इण्डिया, पृ० १४४, और 'Hot words were, exchanged often leading to violent party quarrels पृ० १४४.

४. समानं मन्त्र समिति समानी समानी मनः सह चित्तमेषाम् ॥

ऋग्वेद १०.१९१ ३,

५. One can well understand the sincerity of the prayer offered in the Rigveda that the deliberations of a Samiti should be cordial, its members well disposed towards one another and their minds in perfect harmony,' डा० अल्तेकर वही, पृ० १४४,

६. डा० अल्तेकर, वही, पृ० १४३, सलेटोर, पृ० ४०२.

किया कि जन अथवा राज्य-भूमि के वितरण पर लोक-सभा (समिति) नियन्त्रण का अधिकार रखती थी। सालेटोर ने इस मत की आलोचना करते हुए कहा है कि इस मत के अनुसार यह अर्थ होगा कि लोक समाविशः द्वारा संगठित थी; और विश, क्षत्र (क्षत्रिय), जो कि राजा था, से ऊंचे थे। परन्तु शतपथ ब्राह्मण द्वारा स्वयं इसकी पुष्टि नहीं होती है।[1]

निष्कर्ष रूप में सभा और समिति के संगठन के बारे में निश्चित रूप से कुछ कह पाना कठिन प्रतीत होता है, परन्तु उपर्युक्त विवरणों से ऐसा आभास होता है कि समिति के सदस्य अनुभवी और विद्वान अवश्य रहे होंगे और वे वैदिक युग के राजा के भाग्य विधाता प्रतीत होते हैं। समिति का राजा से निकट सम्बन्ध था और राजनीतिक क्षितिज में समिति का स्थान वैदिकराजा से सर्वोपरि अवश्य रहा होगा क्योंकि समिति राजा का साथ न दे यह अभिशाप समझा जाता था।[2]

(ब) पौर जानपद

जनपद का अर्थ सामान्यतः जन अथवा जाति के निवास स्थान से लिया जा सकता है परन्तु शनैः शनैः इसका अभिप्राय बहुत व्यापक हो गया। राधाकृष्ण चौधरी के अनुसार, "जनपद शब्द से समस्त जाति का बोध होने लगा और यह देश का भी सूचक हो गया।' अर्थशास्त्र, रामायण और जातकों में 'जनपद' शब्द का उल्लेख हुआ है। वास्तव में 'देश को जनपद भी कहते थे जिसका पर्याय राष्ट्र या देश होता था। इसी से 'जानपद' विशेषण की उत्पत्ति हुई है।" जातकों तथा त्रिपिटक साहित्य में जनपद और निगम का वर्णन मिलता है। रामायण में नगर, दुर्ग और जनपद के संदर्भ मिलते हैं। प्राचीन भारतीय ग्रंथों तथा अभिलेखों में जनपद का उल्लेख हमें मिलता है। कभी-कभी जनपद का आशय राज्य से भी लिया जा सकता है।

पौर का आशय पुर, दुर्ग अथवा नगर से लिया जा सकता है। पौर-जनपद के स्वरुप के विषय में राधाकृष्ण चौधरी ने अपना विचार व्यक्त किया है कि, "जब विशः या जन स्थायी रुप से एक निश्चित प्रदेश में बस गये तो उनके विविध ग्राम भी अनवस्थित न रहकर अवस्थित हो गये और जनपद की रक्षा के लिए यह आवश्यक हो गया कि ऐसे नगर का निर्माण किया जाय जहाँ से जनपद कार्य का संचालन किया जा सके और जहाँ जनपद के शिल्पी व्यापारी आदि का निवास हो सके।" इस दृष्टिकोण से पुर निर्मित हुआ। जनपद के दो हिस्से होते हैं—पुर तथा जनपद।

१. सालेटोर, वही, पृ० ४०४.
२. अथर्ववेद, ५.१९.१५

"धीरे-धीरे जनपद का आकार विशाल होता गया। अधिक बड़े आकार और भिन्न-भिन्न निवासियों वाले जनपद में अब दो नयी शासन व्यवस्थाओं का निर्माण हुआ जिसे हम पौर-जनपद नाम से जानते हैं।"

काशी प्रसाद जायसवाल के अनुसार वैदिक युगीन सभा एवं समिति नष्ट नहीं हुई वरन् उनका स्थान "पौर-जनपद" ने ले लिया। "पौर-जनपद" का वर्णन परवर्ती साहित्य तथा अभिलेखों में मिलता है। पौर-जनपद का अर्थ सामान्य "किसी राज्य के ग्राम और नगर की जनता है पर जब इसका उल्लेख नपुंसक एक वचन में 'पौर-जनपद' के रूप में हो तब इसका अर्थ राजधानी और देश के नागरिकों की प्रतिनिधि संस्था से होता है।"[1]

जायसवाल जी के अनुसार पौर जनपद दो सभाओं की संज्ञा था। इसके महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि दशरथ ने अपना उत्तराधिकारी मनोनीत करते समय जो परिषद निमंत्रित की थी उसमें पौर-जनपद-जन भी सम्मिलित हुए थे परिषद के सदस्यों ने पौर-जनपद के साथ दशरथ के प्रस्ताव का समर्थन किया था। इसके साथ नैगम का भी वर्णन रामायण में मिलता है। महाभारत से ज्ञात होता है कि जब राजा आपत्ति की आशंका से कोश में धन संचय करता है तो उसे सब पौर-जनपदों के प्रति अनुकम्पा प्रदर्शित करना चाहिए। महाभारत में पौर-जनपद के दो रूप दिखाई देते हैं—(अ) संश्रित अर्थात अधिवेशन में इकट्ठे हुए लोग (ब) उपाश्रित अर्थात विश्राम करते हुए। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में कहा है कि "समाहर्ता पौर-जनपद के सम्मुख माँग पेश करे।" तथा "अल्पकोश वाला राजा पौर-जनपद को ही ग्रसता है।" महाभारत में राजा के कार्यों को पौर-जनपद द्वारा परिक्षण की बात कही गयी है। इन तथ्यों के आधार पर पौर जनपद को वैधानिक संस्था माना गया है।

अब हम स्मृति साहित्य तथा धर्मशास्त्रों में वर्णित सामग्री का उल्लेख कर सकते हैं। मनुस्मृति में ग्राम संघ तथा देश संघ का वर्णन मिलता है। बृहस्पति ने ग्राम और देश का उल्लेख किया है। याज्ञवल्क्य ने ग्रामगण, श्रेणी गण और जनपद गण का वर्णन किया है। गौतम धर्म सूत्र में कहा है कि शूद्रपौर के प्रति सम्मान प्रकट करना चाहिए। दिव्यावदान में तक्षशीला में पौर सभा का वर्णन हुआ है। यह अशोक के समय थी। दिव्यावदान में प्राप्त सामग्री से ऐसा लगता है कि "पौर तक्षशिला में एक संगठित वैधानिक संस्था के रूप में काम कर रहा था।" अशोक के शिलालेख पाँच में कहा गया है, "राजुक जानपद के लिए अनुकूल और संतोष-

१. अ० स० अलतेकर प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० १०५

जनक हो सके और उसे अनुग्रह दे सकें। धौली शिलालेख में नागरक नगलक) का संदर्भ आया है, इससे नगर सभा या पौर सभा का आभास होता है। अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक के समय जनपद-संस्थाएं मौजूद रही होंगी। रुद्रदामन प्रथम का जूनागढ़ लेख पौरजानपदस्य जन का वर्णन करता है। जातक ग्रंथों में भी नैगम तथा जानपद का विवरण मिलता है। नैगम का आशय पौर से लिया गया है। हाथी गुम्फा अभिलेख में पौर जानपद का वर्णन हुआ है। मृच्छकटिक तथा दशकुमार चरित्र में भी इनके वैधानिक महत्व की चर्चा मिलती है। अतः काशी प्रसाद जायसवाल का मत है कि ६०० ई० पू० से लेकर ६०० ई० तक 'पौर-जनपद'' एक लोकतांत्रिक संस्थाएं थीं। ये स्वस्थ व्यवस्थित संस्थाएं थीं जिनमें पुर तथा जनपद के प्रमुख लोग सम्मिलित हुआ करते थे।

पौर सभा का प्रधान एक नगरनिवासी (व्यापारी अथवा महाजन) हुआ करता था। इसे श्रेष्ठिन अथवा प्रधान कहते थे।[1] कभी-कभी पौर वृद्धों का भी उल्लेख हुआ है। गौतम धर्म सूत्र से ज्ञात होता है कि जो शूद्र पहले पौर सभा का सदस्य रह चुका हो, उसका भी ब्राह्मण को विशेष रुप से आदर करना चाहिए। ऐसा लगता है कि पौर एक सार्वजनिक संस्था थी इसमें शूद्र भी प्रतिनिधित्व प्राप्त कर लेते रहे होंगे। पौर सभा के कार्यों को निम्न ढंग से प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया है:

(१) वशिष्ठ धर्म सूत्र के अनुसार मृत व्यक्ति की जायदाद का प्रबन्ध करना।

(२) वीर मित्रोदय के अनुसार नागरिकों का साम्पत्तिक बल बढ़ाना

(३) नगर की शांति रक्षा का कार्य

(४) न्यायिक कार्य

(५) धर्मस्थान या सार्वजनिक स्थल की रक्षा।

धर्मशास्त्रों के टीकाकार नैगम को पौर का समानार्थी मानते है। चण्डेश्वर का कथन है कि "नैगमाः पौराः, नैगमः पौरसमूहः।" रामायण में पौर का उल्लेख सदैव नैगम के साथ हुआ है।

पौर जानपद के कार्य

जायसवालजी ने पौर-जानपद के कार्यों की विवेचना की है:

(१) राज्याभिषेक के समय इनकी उपस्थिति अनिवार्य थी। (रामायण के आधार पर)

---

१. राधाकृष्ण चौधरी, प्राचीन भारतीय राजनीति और शासन व्यवस्था, पृ० १३७

(२) कहीं कहीं पौर-जानपद उत्तराधिकार में भी बाधक थे। यह धारणा मृच्छकटिकम् पर आधारित है।

(३) मन्त्रियों के लिए भी यह आवश्यक था कि वे पौर-जानपद का विश्वास प्राप्त करें। गुप्त सम्राट स्कन्दगुप्त का मंत्री चक्रपालित जूनागढ़ लेख से इस तथ्य का उल्लेख करता है कि उसने पौरों की सभा को सभी तरीकों से प्रसन्न किया है और साथ ही वह पौरों के प्रति निष्ठ होने की भी कामना करता है।

(४) पौर जानपद को आर्थिक अधिकार भी प्राप्त थे। कर प्रस्ताव भी पहले पौर-जानपद-संस्थाओं के समक्ष उपस्थित किया जाता था। पौर जानपद प्रायः अनुग्रह की याचना करते थे और अनुग्रह प्राप्त करते थे। जिन अनुग्रहों की याचना की जाती थी वे प्रायः आर्थिक हुआ करते थे क्योंकि कौटिल्य का कहना है कि वे ही अनुग्रह और परिहार प्रदान किये जाने चाहिए जिनसे राजकीय कोश की वृद्धि हो। पौर-जानपद के समक्ष असाधारण कर की याचना की जाती थी।

(५) राजा पौर जानपद से सम्पर्क स्थापित करता था।

आलोचना :

जायसवाल के विचारों का आधुनिक विद्वानों ने खंडन किया है। जायसवाल जी इसे केन्द्रिय लोकसभा का रूप देते हैं जबकि अन्य विद्वान पौर-जानपद को इतना महत्व नहीं देते हैं। डा० अलतेकर कहते हैं काशी प्रसाद जायसवाल जी ने जो प्रमाण दिये है तथा इस विषय में जो अन्य सामग्री उपलब्ध है उन सबकी निष्पक्ष दृष्टि से समीक्षा करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि ६०० ई० पू० से ६०० ई० तक के काल में 'पौर जानपद' नामक कोई लोकसभा प्राचीन भारत में नहीं थी।"[१] राधाकृष्ण चौधरी ने भी कहा है कि "ई० पू० ६०० ई० तक न तो भारत में लगातार कोई एक प्रकार का केन्द्रिय शासन था और न कोई केन्द्रिय लोकसभा।

डा० अलतेकर ने जायसवाल की आलोचना करते हुए निम्नलिखित विचार व्यक्त किये है :

(१) "पौर-जानपद" का उल्लेख रामायण में आया है परन्तु उसका आशय 'नागरिकों की एक संस्था' करने के पक्ष में व्याकरण के जो प्रमाण दिए है, वे न तो पुष्ट होतें हैं और नही मान्य हैं। इस ग्रन्थ में प्रयोग बहुवचन में हुआ है—पौर-जानपदाः। इसका अर्थ जनसाधारण ही है।

(२) हाथी गुम्फा लेख में कहा गया है कि राजा खारबेल ने पौर-जानपद पर लाखों 'अनुग्रह' किये—

"अनुग्रहाने कानि सतसहसानि बिसजति पौर-जानपदम्।"

(एपिग्राफिया इन्डिका, २०.७९)

१. वही, पृ०

जायसवाल 'अनुग्रह' का अभिप्राय "वैधानिक अधिकार मानते हैं, जो पौर सभा और जानपद सभा को दिये गये। इस सम्बन्ध में दृष्टव्य यह है कि वैधानिक अधिकारों की संख्या कभी लाखों नहीं हो सकती है।" अनुग्रह का अर्थ यहाँ विविध-विविध सुविधाएं ही समझना चाहिए जो नगर और देहातों की जनता के लिए दी गयीं और जिनका मूल्य लाखों रुपये तक था। राज्य द्वारा प्रजा के कल्याणकारी कार्यों—लगान से छूट, सड़क, कुओं का निर्माण आदि—पर खर्च किया गया धन 'अनुग्रह' कहा जा सकता है। हाथी गुम्फा लेख से यह कहीं भी ध्वनित नहीं होता है कि खारवेल की नीति या शासन पर किसी लोक सभा का नियन्त्रण था।

(३) मनु ने जानपद धर्म की बात कही है, लेकिन इसका अर्थ लोकाचार से है, जानपद जैसी व्यवस्थापिका सभा द्वारा बनाये विधिनियम या कानून नहीं। "मनु में वर्णित समय या संविदा का तात्पर्य था—देश की राजी से किया गया समझौता-भर, और कुछ नहीं। ग्राम-समय का सम्बन्ध इकरारनामा है।"[1]

(४) जायसवाल के इस मत का भी स्मृतियों से कोई समर्थन होता है कि पौर जानपद के विरोधी की न्यायालयों में कोई सुनवायी नहीं होती थी। विरमित्रोदय के कथन—'यत्र नगरे राष्ट्रे च या व्यवस्था पुरातनी तद्विरोधापदको व्यवहारो नदिय। पौरजानपद सोभा पाद कत्वात्'—को जयसवाल ने मुख्य आधार बनाया है। अलतेकर ने इसका उत्तर दिया है कि बीरमित्रोदय केवल यही कहता है कि 'यदि वादी का दावा नगर या देश में सर्वसम्मत पुरातनी व्यवस्था के विरुद्ध हो तो उसे न्यायालय स्वीकार न करे

(५) पौर वास्तव में नगर निवासी का द्योतक है न कि नगर लोक सभा के सदस्य का।

(६) रामायण और मृच्छकटिक में 'पौर-जानपद' के वैधानिक महत्व को भी स्पष्ट नहीं माना जा सकता है। जायसवाल के अनुसार पौर संस्था को युवराज चुनने का अधिकार था क्योंकि रामायण में राम को युवराज चुनने के अवसर पौरों का वर्णन आया है। अलतेकर कहते हैं कि रामायण में स्पष्ट कहा गया है कि राजा ने केवल अपने सचिवों से राय करके श्री राम को युवराज नियुक्त करने का निश्चय किया—

"निश्चित्य सचिवैः सार्धं युवराजममन्यत। मृच्छकटिका में कहीं भी "पौर-जानपद" संस्था का उल्लेख नहीं हुआ है।

(७) महाभारत के आधार पर जायसवाल ने स्वीकार किया है कि "पौर-जानपद" संकट काल में राजा को अतिरिक्त कर लगाने की स्वीकृति देती थी। अलतेकर ने इसका खण्डन किया है कि महाभारत के उसी उद्धरण के अन्तिम श्लोक

---

१. राधाकृष्ण चौधरी, उपर्युक्त, पृ० १३६

की व्याख्या से ज्ञात होता है कि "पौर जानपद सभा में राजा का भाषण नहीं वरन् आवश्यकता पड़ने पर किस प्रकार चिकनी चुपड़ी बातों द्वारा प्रजा को फुसला कर अतिरिक्त कर देने पर राजी किया जाय इसका एक नमूना है।"

(८) पौर जानपद यदि महत्वपूर्ण संस्था रही होती तो ई० पू० ६०० से ६०० ई० तक के शिलालेखों में संस्था के रूप में इसका वर्णन अवश्य मिलता। परन्तु ऐसा नहीं हैं।

(९) अशोक और रुद्रदामन के अभिलेखों में पौर जानपदों का प्रयोग जिस रूप में हुआ है उससे ऐसा स्पष्ट ज्ञात नहीं होता है कि इन नामों की संस्थाएं मौजूद थीं। रुद्रदामन के लेख में पौर जानपदजन उत्कीर्ण है।

(१०) ५०० ई० से १२०० ई० के बीच उत्तर और दक्षिण भारत में राज्य करने वाले विभिन्न वंशों के राजाओं के सैकडों ताम्रपत्र मिले है, परन्तु एक भी ताम्रपत्र में जायसवाल की पौर जानपद सभा का उल्लेख नहीं है।

बी० ए० सालेटोर ने अपने विचार व्यक्त किए हैं जायसवाल द्वारा प्रदि पादित "पौर जानपद" सिद्धान्त की विस्तृत जांच करने से स्पष्ट हो जाता है कि जायसवाल के विचार आलोच्नात्मक परीक्षण में खरे नहीं उतर सकते हैं क्योंकि उनका आधार न तो राजनैतिक सिद्धान्त है और न ही ऐतिहासिक तथ्य।

"From a detailed examination of the paurajanapada theory promulgated by Dr. Jayaswal, it is clear that if cannot stand a critical examination, since it is based neither on political theory nor a historical facts."

राधा कृष्ण चौधरी ने इस सम्बन्ध में कहा है कि" पौर से नगर का बोध होता है और जनपद से देहात का। शूद्र भी पौर में सदस्य हो सकते थे। यह वैश्य और शूद्रों की संस्था थी इसमें व्यापारियों का ही बोल बाला था। पौर नगर के लोगों तक ही सीमित था। जानपद की सदस्यता के सम्बन्ध में मतभेद है परन्तु ऐसा कहा जा सकता है कि इसमें भी किसी एक वर्ग का आधिपत्य नहीं था और ब्राह्मण-क्षत्रिय के अतिरिक्त लोग भी इसके सदस्य हो सकते थे।......ये दोनों संस्थाएं सम्भवतः स्थानीय थीं, स्थानीय लोग ही इनके सदस्य हुआ करते थे। "चौधरी का मत है कि राजा कर सम्बन्धी विचार बिमर्श 'पौर जानपद' के साथ करता था। परन्तु 'यह कोई आवश्यक नहीं था कि इनकी बात मान ही ली जाय परन्तु नगरों और देहातों में कर उगाहने अथवा नये कर लगाने में इनकी मदद ली जाती होगी, ऐसा अनुमान लगाना गलत नहीं होगा।" वास्तव में प्राचीन भारत में नगर और ग्राम के शासन की अनेक संस्थाएं थीं और हो सकता है कि उन्हीं संस्थाओं में 'पौर-जानपद' का भी स्थान रहा हो।[1]

---

१. राधाकृष्ण चौधरी, उपर्युक्त, पृ० १४०.

अध्याय ६

मंत्रि–परिषद्

प्राचीन भारतीय राजनीति चिंतकों के अनुसार मंत्रिपरिषद् राज्य के सप्तांगों में एक अनिवार्य अंग[1] था। सामान्यतः अमात्य का अर्थ मंत्री है। 'अमात्य', 'सचिव' और 'मन्त्रिन्' सम्भवतः एक दूसरे के पर्यायवाची हैं। महोदय काणे के अनुसार इन तीनों में अमात्य सबसे प्राचीन है[2] अर्थ शास्त्र,[3] मानवधर्म शास्त्र,[4] और कामन्दक[5] में, काणे[6] के अनुसार, सचिव और अमात्य पर्यायवाची रूप में प्रयोग किये गये हैं। रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख[7] में दो प्रकार के सचिव बताए गये हैं—मति सचिव और कर्म सचिव। मति सचिव परामर्श दाता था और कर्म सचिव कार्यपालिका का सभासद् था। काणे के अनुसार कौटिल्य ने सामान्य अमात्यों से मंत्रियों के पद को ऊंचा माना है।[8] डा० काशी प्रसाद जायसवाल के अनुसार रामायण में अमात्य का प्रयोग साधारण रूप में हुआ है; जब कि सचिव मन्त्रियों से भिन्न बताये गये हैं।[9]

---

१. स्वानामात्य जनपद दुर्ग कोशदण्ड मित्राणि प्रकृतमः ॥

वर्ती १ अ० १ अधि० ६ अर्थशास्त्र

स्वाम्यमात्यो पुरं राष्ट्रं कोश दण्डौं सुहृत्त था।
सप्त प्रकृतयो ह्येता : सप्तांगं राज्यमुच्यते ॥

श्लोक २६४ अ० ६ मानव धर्मशास्त्र

स्वाम्यमान्य सुहृत्कोण राष्ट्र दुर्ग बलानि च।
सप्तांग मुच्यते राज्यं······॥ श्लोक ६१ अ० १ शुक्रनीति

२. काणे, पी०, वीच, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, भाग ३, पृष्ठ १०४.

३. I/७.

४. ७ ५४·६०

५. ४।२३।२७.

६. काणे, पी० वी०, वही, पृष्ठ १०५

७. एपिग्राफिया इण्डिका, भाग ८, पुष्ठ ३६.

८. काणे पी० वी०, वही पृष्ठ १०५

९. जायसवाल, काशी प्रसाद; हिन्दू पृष्ठ २९६.

महत्व—प्राचीन भारतीय राजनीति मनीषियों ने मंत्रिपरिषद को राज्य का अभिन्न अंग बताया है। राज्य मंत्रिपरिषद् के अभाव से अपंग बन जायगा। मनु ने मन्त्रियों को 'सहाय' बताया है। कौटिल्य के अनुसार किस प्रकार अकेला पहिया अथवा चक्र रथ को नहीं खींच सकता उसी प्रकार बिना मंत्री की सहायता के राजा प्रशासन नहीं कर सकता।[१] महाभारत में बताया गया है कि राजा मंत्रियों की सहायता से ही विजय प्राप्त कर सकते हैं।[२] मंत्रियों की मंत्रणा ही राज्य की वृद्धि का कारण होती है।[३] मानवधर्म-शास्त्र में भी राजा को मंत्रिगणों से परामर्श लेने के लिये सलाह दी गई है, क्योंकि जब सरल एवं सुगम कार्य भी एक व्यक्ति से होना दुष्कर है तो विशेषकर बड़े फल का देने वाला राज्य-सम्बन्धी कार्य अकेला मानव कैसे कर सकता है। अतः उन लोगों (मंत्रियों) के साथ बैठ कर प्रतिदिन राज्य के कार्यों का चिंतन राजा को करना चाहिए।[४] कामन्दक ने मन्त्री को नेत्र की उपाधि दी है।[५]

उत्पत्ति एवं विकास :—काशी प्रसाद जायसवाल ने 'राजकृत' एवं 'रत्निन' जैसे वैदिक उच्चपदाधिकारियों का वर्णन करते हुए अपना मत प्रकट किया है हिन्दू मंत्रि परिषद् एक अवयव थी जोकि प्राचीन वैदिक युगीन राष्ट्रीय सभा से शाखा-स्वरूप होकर अलग हो गयी थी।[६] ऋग्वेद और अथर्ववेद में राजा के मंत्रियों का उल्लेख नहीं है न उल्लेख का कोई प्रयोजन ही है। हाँ, यजुर्वेद की संहिताओं और

---

१. सहाय साध्यं राजत्वं चक्रमे कंन वर्तते।
कुर्वीत सचिवांस्तस्मात्तेषां चश्रुणुयान्मतम्॥
अर्थशास्त्र १, अध्याय ३

२. जियो मंत्रमूलोहि राजो भवति भारत।
सभापर्व श्लोक २-५ अ० ५

३. मंत्रिणां मंत्रमूलंहिराज्ये राष्ट्र विवर्द्धते॥
सभापर्व श्लोक ४८ अ० ८७

४. अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येनकेन दुष्करम्।
विशेषतोऽसहायेन किन्तु राज्यं महोदय॥
मनु ८.५३

५. कामन्दक नीति १७ ६७.

६. जायसवाल, काशी प्रसाद, वही, पृ० २८६, "The Hindu Council of Ministers was a body and organism which had differentiated and branched of from the old National Assembly of Vedic times."

ब्राह्मण ग्रन्थों में राज्य के उच्चाधिकारियों का उल्लेख है, ये रत्नी कहे जाते थे और सम्भवतः राज परिषद के सदस्य थे।[1] उत्तर-वैदिक युग में हमें अधिकारियों के नाम—पुरोहित, सेनानी, सूत, ग्रामणी, संग्रहीता, भावदूक, क्षता, अक्षावाप, पालागल आदि मिलते हैं। ये सब रत्निन् कहे गये हैं। डा० अल्तेकर के अनुसार, "वैदिक काल की रत्नि परिषद् में पट्टरानी, युवराज, राजन्य आदि राजा के सम्बन्धी, अक्षावाप; क्षता आदि दरबारी और सेनानी, सूत, संग्रहीता और रथकार आदि प्रमुख अधिकारी शामिल रहते थे[2]।' वैदिक काल की समिति बहुत शक्तिशाली संस्था थी। संभवतः रत्नी उसी के सदस्यों में से चुने जाते थे, परन्तु इस संभाव्य अनुमान का कोई पर्याप्त प्रमाण नहीं है।[3] वैदिक युग में रत्नियों का संवैधानिक महत्व बहुत था। शतपथ ब्राह्मण[4], तैत्तिरीय ब्राह्मण[5] तथा तैत्तिरीय संहिता[6] के अनुसार राजा अपने अभिषेक के समय रत्नियों से घर जाकर रत्नहवि प्राप्त करता था। इस संदर्भ में इन्हें 'राजकृत' अथवा राजकृतः कहा गया है। राजा उनके घरों में जाकर रत्नहवि प्रदान करता था। अतः राज्याभिषेक की वैधानिकता स्थापित करने हेतु इन रत्नियों की स्वीकृति आवश्यक थी।

वैदिक संस्कृति का धीरे-धीरे ह्रास प्रारम्भ हुआ 'रत्नी वर्ग का भी अंत हो गया।'[7] डा० अल्तेकर का मत है कि 'धर्मशास्त्रों और नीतिशास्त्रों से पता चलता है कि रत्नी का स्थान एक और भी प्रभावशाली संस्था ने ले लिया था। यह 'मंत्री' या 'अमात्य' अथवा सचिव परिषद थी।[8] डा० काशी प्रसाद जायसवाल तथा डा० अल्तेकर के अनुसार मन्त्रि परिषद् का विकास वैदिक लोक सभा (समिति) से हुआ।[9] The Council of Ministers evolved out of the Vedic popular assembly

---

१. अल्तेकर, अ० स० डा०, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० ११७
२. अल्तेकर, उपर्युक्त, पृ० ११८
३. अल्तेकर, उपर्युक्त, पृ० ११८
४. शतपथ ब्राह्मण ५.३१
५. तैत्तिरीय ब्राह्मण १.७३
६. तैत्तिरीय संहिता १ ८ ६
७. अल्तेकर, वही, पृ० ११८
८. अल्तेकर, वही, पृ० ११६
६. डा० बी० एम० बरुआ भी डा० जायसवाल के मत से सहमत हैं। देखिए—
इन्सक्रिप्शन आफ अशोक (पार्ट II) और अशोक एण्ड हिज इन्सक्रिप्शन्स (पार्टस 1 और II, द्वितीय संस्करण),

(Samiti or Parishad) and thus it retained as such its representatives character." परन्तु डा० यू० एन० घोषाल इस मत से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदों में समिति के स्थान पर परिषद का प्रयोग हुआ है, वहाँ राजा और विद्वान ब्राह्मणों की कुलीनतंत्रात्मक सभा थी और इसके विशेष कोई जन कार्य नहीं थे।[१] The parishad appears as an lternative designation of the Samiti only in thr older Upanished texes (C. U. V. 3. l. ff. B. U. VI. 2. 1. ff etc), where it has the form of an aristocratic councial attended by the king and the learned Brahamanas and is not specially credited with any public functions.

मन्त्रिपरिषद् को अर्थशास्त्र[२] में, परिषद्,' जातकों, [३] महावंश और अशोक के अभिलेखों में परिसा कहा गया है। डा० जायसवाल के अनुसार वैदिक काल के बाद परिषद् ने वैदिक समिति को लोक रीतियों और प्रतिनिधित्व की विशेषताओं को बनाये रखा।[५] "With that name they likewise inherited and retained the popular tradition and sense of responsibility. They never lost their Vedic prestige even in the most powerful days of the Hindu Monarchy." पालि ग्रन्थों में मन्त्रियों के लिए राजकत्तरों शब्द का प्रयोग हुआ है।[६] रामायण में भी 'राज कर्त्तार' शब्द मिलता है।[७] अशोक के शिलालेख ३ और स्तम्भ लेख ४ में 'राजूक' अधिकारी का वर्णन मिलता है। डा० जायसवाल के अनुसार 'राजूक' मंत्री थे, उनके हाथ में प्रशासकीय शक्तियाँ थीं।[८] ऐतिहासिक काल में भी अधिकतर राज्यों में मंत्रिपरिषद् काम कर रही थी।[९] छठी शताब्दी ई० पू० में

१, घोषाल यू० एन०, स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ ४१३,
२. अर्थशास्त्र, अधि० । अ० १५.
३. जा० ७ पृ० ४०५ ौर ४३१
४. शिलालेख III और VI
५. जायसवाल काशी प्रसाद, वही, पृष्ठ २८७
६. दीघनिकाय, महागोविन्द सुतांत, ३२.
७. अयोध्याकांड अध्याय ७६
८. जायसवाल, काशी प्रसाद, वही पृष्ट २८७, फुटनोट ११, तुलना कीजिए, J. B. O. R. S. जिल्द ४, पृष्ठ ४१.
९. अल्केकर, अ० स० डा० वही, पृष्ठ ११६.

मगधराज्य में राजा अजातशत्रु के महामात्य वस्सकार का उल्लेख है।[1] जातकों में भी मन्त्रियों का उल्लेख मिलता है।[2] अभिलेखों और साहित्य में भी मौर्यो और शुंगों की मन्त्रिपरिषद का वर्णन मिलता है।[3] पश्चिमी भारत का शक राजा रुद्रदामन् एक परिषद की सहायता से राज्य करता था जिसमें 'मतिसचिव' (परामर्शदाता) और 'कर्म सचिव' (शासन विभागों के अध्यक्ष) सदस्य होते थे।[4] गुप्त राजाओं के लेखों में भी मन्त्रियों का उल्लेख हुआ है। मौखरी वंश के अन्तिम राजा की अचानक मृत्यु हो गयी थी और वह निस्संतान था मन्त्रियों ने हर्षवर्धन को मौखरी राज्य के सिंहासन प्रदान किया था।[5] मध्ययुगीन शासन व्यवस्था में उनका महत्वपूर्ण स्थान था। परमार राजा यशोवर्मा के लेख में उसके 'महाप्रधान' (प्रधान-मंत्री) पुरुषोत्तम देव का नाम है।[6] नाडोल के चाहमानराजाओं के दान लेखों में महामात्य के नाम का उल्लेख आया है।[7] महोबा के चंदेलों के लेखों में अनेक मन्त्रियों के वंश का उल्लेख है।[8]

सुशासन के लिये मन्त्रियों का होना बहुत आवश्यक था, युवराज और प्रांतों के शासक भी अपनी मंत्रिपरिषद् नियुक्त करते थे।[9]

संगठन—

(अ) संख्या—मनु के अनुसार मंत्रियों की संख्या ७ या ८ होनी चाहिए।[10] महाभारत में उनकी संख्या ८ बताई है।[11] कौटिल्य अपने अर्थशास्त्र में विभिन्न मतों को उद्धृत करते हैं जिनके अनुसार मनुस्मृति १२, बार्हस्पत्य पथवाले १६ और औशनस पंथ वाले २० मन्त्रियों के पक्षमें थे।[12] अब प्रश्न यह उठता है कि मंत्रियों की

---

१. डायलाग्स आफ बुद्ध, भा० २, पृष्ठ ७८

२. संख्या ५२८, ५४३

३. अशोक शिलालेख संख्या ३ और ६ अर्थशास्त्र १, १५, मालविकाग्निमण, अंक ५

४. एपिग्राफिया इण्डिका, भाग ८ पृष्ठ ४२ रुद्रदामन का जूनागढ़ अभिलेख।

५. वाटर्स, प्रथम भाग, पृष्ठ ३४२

६. इन्डियन एन्टिक्वरी भाग १७, पृष्ट ३४६

७. एपिग्राफिया इन्डिका, भाग ११, पृष्ठ ३०८

८. उपर्युक्त भाग १, पृष्ठ १५७ और २०६

९. अल्तेकर, अ० स० डा० वही, पृष्ठ १२०

१०, सचिवान्सप्त चाष्टौ व कुर्वीत सुपरीक्षितान् ७५४

११. अष्टानां मंत्रिणां मध्ये मंत्र राजोपधारयेत् १२. ८५

१२. भाग १, अध्याय १५

संख्या निर्दिष्ट करते समय आचार्यों ने संख्या के बारे में राय क्यों प्रकट की ? संभवतः मंत्रियों की संख्या निर्दिष्ट करते समय विभिन्न आचार्यों की दृष्टि विभिन्न राज्यों पर थी।[1] मनु[2] और कौटिल्य के अनुसार प्रत्येक राज्य की आवश्मकतानुसार उनके मन्त्रियों की संख्या निर्धारित की जाय। राज्य के विस्तार के अनुसार उसका कार्यक्षेत्र होगा। उदाहरणार्थ छोटे राज्य का कार्य क्षेत्र भी सीमित होगा, अतः ४-५ मन्त्रियों से ही काम चल जायगा, जैसा कि शिलाहार राज्य में था।[4] डा० सालेटोर केअनुसार राज्य की समस्याओं के बढ़ने और घटने के साथ परिषद् में मंत्रियों की संख्या घटती और बढती रहती थी।[5] "The number of ministers comprising their council increased or decreased in number' with the increase or decrease in the number of problemes facing the state." डा० अल्तेकर जातक[6] उद्धृत करतें हुए कहते हैं कि जातक में, जबकि राज्य का कार्यक्षेत्र व्यापक न होता था साधारणत पांच मंत्री होते थे।[7] साम्राज्य के विशाल होने पर मन्त्रियों की संख्या सम्भवतः अधिक रहती होगी। 'परन्तु मंत्रिमंडल की संख्या सर्वसम्मत परम्परा के अनुसार प्रायः आठ ही रहती थी और आवश्यकता पड़ने पर शुक्र[8] के मतानुसार उप मंत्री नियुक्त किये जातें रहे होंगे'[9] रामायण में राम ने भरत को उपदेश किया कि वह तीन-चार मन्त्रियों से मंत्रणा ले।[10] कौटिल्य के अनुसार राजा को तीन या चार मन्त्रियों से परामर्श लेनी चाहिये।[11] डा० अल्तेकर का अनुमान है कि सम्भव है कि

---

१. अल्तेकर, अ० स० डा० वही, पृष्ठ १२०

२. मनु ७,६१

३. यथासामर्थ्येमिति कौटिल्यः, १·१५

४. डा० अल्तेकर ने अपनी 'प्राचीन भारतीय शासन पद्धति में इण्डियन एण्टिक्वरी; V, पृष्ठ 278, IX, पृष्ठ ३५ उद्धृत की है—पृष्ठ १२१ फुट नोट १

५. सोलेटोर, बी० ए०, एन्शियन्ट इन्डियन पोलिटिकल थाट एण्ड इन्स्टीट्यूशन पृष्ठ २४६

६. जातक संख्या १२१

७. डा० अल्तेकर, वही पृष्ठ ५२८

८. २, १०६-११०

९. डा० अल्तेकर, वही; पृष्ठ १२१

१०. २. १००, ७१

११. १. १५

ये तीन या चार मन्त्री मंत्रिमंडल के वयोवृद्ध विशेषानुभवी वरिष्ठ सभासद हों जो अंतस्थ मन्त्रिमंडल (inner cabinet) के सभासद हों और जिनके उपदेश पर राजा विशेष तरह से विचार करता हो।"[1] महाभारत के शांतिपर्व में ३७ सचिवों की परिषद् बताई गयी।[2] काणे का मत है कि सर्वप्रथम तीन अथवा चार मन्त्रियों का एक छोटा मन्त्रिमण्डल होता था, दूसरे आवश्यकता के अनुसार आठ अथवा अधिक लोगों की मंत्रिपरिषद् थी और तीसरे अमात्यों या सचिवों की एक बड़ी संख्या थी।[3] 'Firstly there was to be a small cabinate of three or more ministers secondly there was to be a council (Parished) of ministers who might be eight or more in number according to requirements and thirdly there was a large number of amatyas or sachivas.' डा० अल्तेकर का अनुमान है कि ७ या ८ मन्त्रियों के मन्त्रिमण्डल के अतिरिक्त आजकल की प्रिवी कौंसिल की भाँति एक बड़ी परामर्शदात्री संस्था भी होती थी जिनके सदस्य 'अमात्य' कहे जाते थे।[4] वही विद्वान पुनः कहता है कि महाभारत में उल्लिखित ३६ अमात्यों की परिषद् इसी प्रकार की संस्था थी।[5]

(ब) योग्यतायें :—दिन प्रतिदिन के प्रशासन के लिये मन्त्री उत्तरदायी थे; सरकार की नीतिनिर्धारण में भी हस्तक्षेप रखते थे। अतः योग्य व्यक्ति की ही आवश्यकता थी प्राचीन भारतीय राजनीति चिंतकों ने उनकी नियुक्ति के हेतु अनिवार्य योग्यताओं की तालिकायें प्रस्तुत की हैं, जो मनुष्य उन योग्यताओं को रखता था वही मंत्रिपद प्राप्त कर सकता था।

(१) उत्तम कुल में जन्म :—प्राचीन भारत में उच्च वंश में जन्म को अधिक महत्ता बताई गई है। राज्य में अधिकारी वर्ग की नियुक्ति में उच्चकुल में जन्म लेने वाले व्यक्ति को वरीयता दी जाती थी। कौटिल्य ने अमात्य की योग्यताओं का उल्लेख किया है। उनके अनुसार अमात्य को उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ व्यक्ति होना चाहिये[6] महाभारत के शांतिपर्व से ज्ञात होता है कि मन्त्रियों को कुलीन वंश का होना चाहिये।[7] मानवधर्मशास्त्र के अनुसार मन्त्रिपरिषद् में कुलमान ७ या ८ सचिव

१. डा० अल्तेकर, वही, पृष्ठ १२१
२. ८५, ७-६
३. काणे, पी० वी०, वही, पृ० १०७
४. डा० अल्तेकर, वही पृष्ठ १२१
५. उपर्युक्त, पृ० १२१
६. अभिजाता......अमात्य सम्पत ।। (अर्थशास्त्र वार्ता १ अ० ६ अधि०)।
७. कुलीन कुल उत्पन्ना ।। शांतिपर्व ८३.१६

नियुक्त करने चाहिये ।[१] याज्ञवल्क्य ने भी राजा के मन्त्रियों को उच्चकुल का होना बताया है ।[२] पाणिनी ने तो उसके पद के साथ ब्राह्मणत्व और अयस्थ भी लगा दिया हैं ।[३] परन्तु शुक्रनीति का लेखक कौलीन्य को आवश्यक महत्व प्रदान करने का समर्थक नहीं है उसका कथन है कि कुल का महत्व विवाह एवं भोजन के समय होता है; राजनीति में नहीं ।[४] मनुष्य के कार्य, शील और गुणों की पूजा होती है । शुक्र ने कुल की अपेक्षा गुणों को अधिक महत्वशाली बताया है ।[५]

(२) आयु की योग्यता—मंत्री पद की दूसरी योग्यता आयु सम्बन्धी प्राचीन चिंतकों ने बताया है । शुक्रनीति के अनुसार सदस्य वृद्ध होना चाहिये ।[६] इस योग्यता प्राप्ति के अन्तस्तल में अनुभव प्राप्त कर विचार निहित रहा होगा ।[७] शांति पर्व में श्लोक संख्या ९ अध्याय ८५ पर नीलकंठ महोदय की टिप्पणीसे विदित होता है कि मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के लिये कम से कम पचास वर्ष की आयु वाला व्यक्ति होना चाहिए ।[८] परन्तु मानव धर्मशास्त्र में आयु सम्बन्धी योग्यता पर कुछ नहीं कहा गया है । अतः यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि मनु महोदय भी आयु के सिद्धान्त का समर्थन करते थे ।[९] कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में आयु की रोक नहीं लगायी ।

(३) राजभक्ति की योग्यता—शुक्र[१०] और कौटिल्य[११] के अनुसार मन्त्रि परिषद् की सदस्यता के लिए व्यक्ति में राजा के प्रति दृढ़ भक्ति होनी चाहिए ।

(४) चारित्रिक योग्यता—उत्तम आचरण मंत्रिपरिषद् की सदस्ता के लिए मुख्य योग्यता थी । महाभारत के अनुसार काम, क्रोध,लोभ आदि बुराइयों से प्रभावित

---

१. ......कुलोद्गतान । सचिवान् सप्तचाष्ठौ वा प्रकुर्वीत । मानवधर्मशास्त्र ७.५४

२. याज्ञवल्क्य स्मृति; १, ३१२

३. अग्रवाल, वासुदेव शरण डा० पाणिनी कालीन भारतवर्ष, पृ० ३९१ मुख्य मन्त्री या आर्य ब्राह्मण

४. बाजपेयी। राघवेन्द्रु डा० बार्हस्पत्य राज्य व्यवस्था, पृ० ९२

५. कर्मशील गुणाः पूज्यास्तथा जाति कुले न हि ।
न जात्या न कुले नैव श्रेष्ठत्व प्रतिपद्यते । शुक्रनीति २, ५५

६. २, ८

७. पाण्डेय, श्यामलाल डा०, शुक्र की राजनीति, पृष्ठ ६७

८. पंचाशत वर्षाणां सन्निरयेके कस्य ।। नीलकण्ठ टिप्पणी श्लोक संख्या ९ अ० ८५

९. पांडेय, श्यामलाल डॉ०, वही, पृष्ठ ६८

१०. भक्तान्प्रियवदान् । २, ८

११. दृढ़ भक्ति :......अमात्यसम्पत्, अर्थशास्त्र, वार्ता । अ० ९ अधि० ।

वित होकर उसे पथभ्रष्ट नहीं होना चाहिए।[१] भीष्म ने युधिष्ठिर को समझाते हुए बताया है कि शूर महान, अनुभवी, सन्तुष्ट, महान उत्साही और ब्राह्मण स्वभाव का मन्त्री बनना चाहिए।[२] नैतिक चरित्र उसे धर्मज्ञ, धर्मात्मा, कर्तव्य परायण ही नहीं अक्षुद्र कर्मा भी बना देता।[३] कौटिल्य ने गुणो को अमात्यसम्पद् नाम से इंगित किया है।[४] 'उन्होंने' न केवल बार्हस्पत्य मत को स्वीकार किया है वरन् अधिक वैज्ञानिक ढंग पर चरित्र, बुद्धि-प्रतिभा तथा[५] भक्ति सम्बन्धी गुणों का समावेश आवश्यक माना है।' मनु तथा शुक्र ने भी चारित्रिक गुणों की महत्ता बतायी है।[६]

(५) अन्य योग्यतायें—अब हम कुछ अन्य योग्यताओं के बारे में विचार करेंगे। महाभारत और अर्थशास्त्र में बताया गया है कि सदस्यता प्राप्त करने के लिये व्यक्ति को उसी राज्य का निवासी होना चाहिए। महाभारत के अनुसार विदेशी चाहे जैसा सदाचारी एवं योग्य व्यक्ति क्यों न हो, वह मन्त्र सुनने का अधिकारी न था।[७] मन्त्रिपरिषद् की सदस्यता प्राप्त करने के लिए उसी देश में उत्पन्न हुआ होना चाहिए।[८] कौटिल्य के अनुसार भी अमात्य को उसी जनपद का निवासी होना चाहिए।[९]

कुछ प्राचीन चितकों के अनुसार मंत्रिपद आनुवंशिक होता था, यदि पुत्र पिता की भाँति योग्य होता था।[१०] आनुवंशिक सिद्धांत की पुष्टि अभिलेखों द्वारा होती है उदाहरणार्थ समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि हरिषेण महादंडनायक था, उसका पिता ध्रुवभूति भी महादंडनायक था।[११] चन्द्रगुप्त द्वितीय के उदयगिरि

---

१. यौन कामाद् भयाल्लोभात् क्रोधा द्वाधर्ममुत्सृजेत। (शा० पर्व ८०, २७)
२. शान्तिपर्व ८३, ३
३. उपर्युक्त, ५७, २३, धर्मेषु निरतान्। धर्मनित्यं-धर्मज्ञ-अक्षुद्रम।
४. अर्थशास्त्र, १, ९
५. बाजपेयी, राघवेन्द्र डा० पृष्ठ ९२
६. मनु, ७, ५४, शुक्र २, ८
७. शान्तिपर्व ८२, ३८
८. उपर्युक्त ८३, १९, स्वदेश जै ।।
९. जानपदोऽभिजातः। अर्थशास्त्र १, ९
१०. मनु, ७ ५ ४, याज्ञवल्क्य १, ३१२, सभापर्व ५; ४३, अग्निपुराण २२०; १६-१७ शुक्र २, ११४
११. कार्पस इन्सक्रिप्शन्स जिल्द ३ पृ० १०, १५

गुफा अभिलेख के अनुसार उसके मन्त्री वीरसेन ने मन्त्रिपद आनुवंशिक सिद्धान्त द्वारा प्राप्त किया था।[1] शुक्र और नीति वाक्यामृत के अनुसार मन्त्रियों का चुनाव ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्गों से होना चाहिये, परन्तु शूद्र वर्ण से नहीं वह चाहे जितना गुणवान क्यों न हो।[2]

उपर्युक्त योग्यताओं के अतिरिक्त अर्थशास्त्र के अध्ययन से मन्त्रियों की योग्यताओं पर और अधिक प्रकाश मिलता है, कौटिल्य के अनुसार अमात्य को निम्नलिखित विशेषताएँ रखना चाहिए :—

(१) समय पर भली प्रकार राजा के अनुकूल
(२) शिल्प विद्या में कुशल
(३) सूक्ष्मदर्शी
(४) विद्वान
(५) स्मृतिवान
(६) कार्य कुशल
(७) सुवक्ता
(८) शीघ्र प्रबंध करने की योग्यता से युक्त
(९) क्लेश सहन में समर्थ
(१०) स्नेह करने वाला
(११) शीलवान और आरोग्य तथा मानसिक शक्ति से सम्पन्न
(१२. जड़ता और चपलता से शून्य
(१३) सबका प्रिय
(१४) व्यर्थ किसी से बैर न लेने वाले।[3]

मनु के अनुसार राजा को ७ या ८ मन्त्रियों की नियुक्ति करनी चाहिए जिनके पूर्वज दृढ़ भक्ति रखते थे जो कि शूर हो, हथियारों में निपुण हों, विद्याओं में पारंगत

---

१. उपर्युक्त, पृष्ठ ३४ अन्वय प्राप्त साचिव्य।

२. शुक्र २, ४२६-२७; नीतिवाक्यामृत पृ० १०८

३. अर्थशास्त्र १, ९ इसके अतिरिक्त अमात्य को उसी जानपद का जन्म से नागरिक उत्तम कुल वाला पवित्र आचरणधारी तथा दृढ़ भक्ति वाला होना कौटिल्य ने बताया है। इसे हम पहले ही बता चुके हैं।

हों उत्तम कुल मे जन्में हों और उनको जांच हो चुकी हो।[1] योग्यताओं की जांच कैसे की जाय, इसका विधान कौटिल्य ने बताया है।[2] "It speak volumes for the Mauryan Prime Minister that he could with such acumen lay down the hardest qualifications wich any Progressive modern government could have prescribed for recruiting the highest officials of the Shava."

उपाधियाँ—शुक्र अकेले ऐसे विचार दर्शक हुए हैं, जिन्होंने उपाधियां बताई हैं। उनके अनुसार मन्त्रिपरिषद् में १० मन्त्री होने चाहिये—(१) पुरोहित, (२) प्रतिनिधि, (३) प्रधान, (४) सचिव, (५) मन्त्री, (६) प्राड्विवाक, (७) पंडित, (८) सुमंत्र, (९) अमात्य और (१०) दूत,[3] वह यह भी कहते हैं कि कुछ लोगों के मत से पुरोहित और दूत की गणना मन्त्रियों में नहीं होनी चाहिए। डा० अल्तेकर के अनुसार, यद्यपि पूर्व आचार्यों ने विभागों का वर्णन नहीं किया है फिर भी हम मान सकते हैं कि विभागों का विभाजन शुक्राचार्य द्वारा वर्णित ढंग पर ही होता था, क्योंकि उत्कीर्ण लेखों में इन मन्त्रियों के उल्लेख इसी या इसके पर्यायवाचक नामों में मिलते है।"[4]

(१) पुरोहित—इसका महत्व वैदिक काल से ही था, कई शताब्दियों तक उसका स्थान मंत्रिपरिषद् में रहा वह धार्मिक कार्यों से सम्बन्ध रखता था। पुरोहित कर्म द्वारा राष्ट्र का उत्थान करता था।[5] वैदिक सभ्यता के ह्रास के साथ उसका भी महत्व कम होने लगा। डा० अल्तेकर का मत है कि 'गुप्त काल के बाद के लेखों में उसका उल्लेख मन्त्रियों से अलग किया गया है जिससे प्रकट होता है कि वह मंत्रिमंडल का सदस्य न रह गया था। अस्तु शुक्रनीति में उसका मंत्रिपरिषद् में सम्मिलित किया जाना संभवतः पुरानी परम्परा का द्योतक है, न कि तत्कालीन प्रथा का।[3] शुक्रनीति में स्पष्ट कहा गया है कि अन्य लोगों के मतों के अनुसार मन्त्रिमंडल में पुरोहित को स्थान नहीं है।[7]

---

१. मनु ७, ५४-५८
२, सालेटोर बी० ए० वही, २४५
३. शुक्र—७२-२७०
४. डा० अल्तेकर, वहीं, पृष्ट १२२
५. अर्थशास्त्र १, ९
६. डा० अल्तेकर, वही पृष्ठ १२३
७. शुक्र २, ७२

(२) प्रतिनिधि—राजा का मुख्य सलाहकार था जो राजा को परामर्श दे कि वह क्या कार्य करे, और कौन सा कार्य न करे ? सम्भवतः प्रतिनिधि की गणना मंत्रिपरिषद् में होती थी क्योंकि उत्कीर्ण लेखों में इसका उल्लेख नहीं मिलता ।[1]

(३) प्रधान—शुक्र के अनुसार वह 'सर्वदर्शी' था ।[2] वह मुख्य कार्यपालिका अधिकारी था । वह सम्पूर्ण प्रशासन की देख-रेख करता था ।

(४) सचिव—राज्य की सेना से सम्बन्धित समस्त कार्यों का ज्ञान रखने वाला था ।[3] गुप्त अभिलेखों में 'महाबलाधिकृत'[4] मौर्य साम्राज्य में सेनापति कहलाता था ।

(५) मंत्री—वह परराष्ट्र मंत्री था । इसे नीतिकुशल होना चाहिए ।[5]

(६) प्राड्विवाक—इसके जिम्मे न्याय प्रशासन था । वह प्रधान न्यायाधीश था । वह लोक, शास्त्र और नीति का ज्ञाता होता था ।[6]

(७) पंडित वह धर्म और सदाचार के विषयों का विशेषज्ञ होता था । उसकी समानता आधुनिक विधि सचिव से की जा सकती है ।[7] 'वह राज्य को यह भी सलाह देता था कि धर्म और संस्कृत के अनुकूल पुरानी व्यवस्था में क्या संशोधन किए जायें । अशोक के 'धर्ममहामात्य' सातवाहनों के 'श्रमण महामात्र' गुप्तराज्य के 'विनयस्थितिस्थापक' राष्ट्रकूटों के 'धर्मांकुश' और चेदिराज्य के 'धर्मप्रधान' सब इसी श्रेणी के अधिकारी थे ।'[8]

(८) सुमंत्र—वह आय व्यय का विशेषज्ञ और उसके हिसाब का रखने वाला था ।[9] 'पर इससे अच्छा शब्द वैदिक काल का 'संग्रहीता' या कौटिल्य का 'समाहर्ता' है । उत्कीर्ण लेखों में इसे अधिकतर 'भांडागारिक' कहा गया है ।[10]

---

१. डा० अल्तेकर, वही; पृ० १२४
२. शुक्र—सर्वदर्शी प्रधानस्तु
३. सेनावित्सचिवस्तथा । (शुक्रनीति २·८३)
४. एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द १० पृष्ठ ७१
५. मन्त्री तु नीति कुशलः । (शुक्रनीति २·८४)
६. लोकशास्त्र न यज्ञस्तु प्राड्विवाक स्मृतिः सदा । (शुक्र० २·८४)
७. पाण्डेय, श्याम लाल, डा० शुक्र की राजनीति, पृष्ठ ७६
८. डा० अल्तेकर वही पृ० १२६
९. आय व्यय प्रविज्ञाता सुमंत्रः स च कीर्तितः । शुक्र २·८५
१०. डा० अल्तेकर वही, पृ० १२६

(९) अमात्य—इसका कार्य राज्य के नगरों, ग्रामों तथा जंगलों तथा उनसे होने वाली आय का हिसाब ठीक-ठीक रखना था। इसके अलावा 'कृषि योग्य और परती भूमि तथा खानों की अनुमानित आय का ब्योरा इसके पास रहता था।"[1]

(१०) दूत—शुक्रनीति में जिस दूत का उल्लेख है, वह आधुनिक काल के राजदूत के समान था और इसके कर्त्तव्य लगभग इसी के समान हैं।

मंत्रिपरिषद के कर्त्तव्य तथा कार्य—

(अ) मंत्रणा—लगभग सभी राजनीतिक चिंतकों ने एक राय होकर कहा कि राजा को मंत्रियों से परामर्श चाहिए। बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र में तो यहाँ तक कहा गया है कि मंत्रियों की राय राजा की राय से भिन्न है तो भी राजा को क्रोध न करना चाहिए।[2] मनु के अनुसार राजा का मंत्रियों से सामूहिक और अलग-अलग दोनों रूप में मन्त्रणा लेनी चाहिए।[3] व्यक्तिगत मन्त्रणा भी दो जा सकती थी। यह भी संभव था कि राजा को किसी दूसरे मन्त्री के सामने परामर्श देना न चाहता हो। 'शुक्र यह शंका करते हैं कि राजा की उपस्थिति से मन्त्री बहुधा सच्ची और राजा बुरी लगने वाली राय प्रकट करने में हिचक सकते हैं इसलिए वे यह राय देते हैं कि मन्त्री अपना अपना मत सप्रमाण लिखकर राजा के पास भेज दें।"[4] कौटिल्य ने भी राजा को ३ या ४ मन्त्रियों से सलाह लेने को बताया है।[5]

(ब) बहुमत द्वारा निर्णय—राजा को चाहिए कि वह जिस समय परामर्श ले रहा हो उस समय जिस पक्ष में बहुमत हो उसी को व्यवहार में लाये।[6] मनु ने भी परामर्श दिया है कि राजा को अपने मन्त्रियों से अलग-अलग और सबकी एक साथ परामर्श ले और फिर उस निर्णय के अनुसार काम करना चाहिए।[7] वृहस्पति को भी बहुमत अथवा ऐकमत्य ही स्वीकार्य है।[8] कौटिल्य के अनुसार राजा को ३ या ४ मन्त्रियों से विचार विमर्श करना चाहिए। उनके अनुसार एक ही मन्त्री स मन्त्रणा

१, उपर्युक्त पृ० १२७
२. मन्त्रकाले न कोपयेत् (२.५३)
३. मनु ८ ५७
४. डा० अल्तेकर, वही, पृ० १२७
५. अर्थशास्त्र भाग १, अध्याय १५
६. शुक्रनीति १, ३६३.३६४
७. मानवधर्म शास्त्र २·५७
८. बाजपेयी, राघवेन्द्र डा० वही, पृ० १०० "संभवतः बुद्धयुगीन गणतन्त्रों में बहुमत एवं उनके संस्थागारों के निर्णयों में बार्हस्पत्य राज्य चिन्तन को निर्विवाद रूप से प्रभावित किया था।"

लेने पर विवादास्पद विषय पर निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता है। दो मन्त्रियों से मन्त्रणा लेना भी उचित नहीं है क्योंकि दोनों का परस्पर मिल जाना स्वाभाविक है अथवा मतभेद होने पर कार्य का नाश हो सकता है। इसलिए कौटिल्य ने ३ या ४ मन्त्रियों से परामर्श लेने की राजा को सलाह दी है जिससे कि वह किसी संतोषप्रद निष्कर्ष पर पहुँच सके। परन्तु फिर वह कहते हैं कि देश, काल और कार्य विशेष की आवश्यकता देखकर एक अथवा दो मन्त्रियों के साथ भी मन्त्रणा की जा सकती है। फिर भी हम मान सकते हैं कि साधारणतः मन्त्रिपरिषद् एक होकर कार्य करती थी और संयुक्त रूप से राजा को मन्त्रणा देती थी। सम्यक विचार के बाद मन्त्रिपरिषद् एक मत होकर जो शास्त्र-सम्मत राय देती थीं वह 'उत्तम मन्त्र समझा' जाता था और उसका बहुत महत्व होता था।[1]

मंत्र गुप्ति—चूंकि राज मन्त्र पर आधारित है इसकी सफलता इसकी गुप्ति पर ही निर्भर करती है। कौटिल्य के अनुसार राजा की आज्ञा बिना जहाँ मन्त्रण हो रही हो वहाँ कोई न आवें एवं मन्त्रभेदी का मूलोच्छेद कर दिया जावें।[2] मनु के अनसार जिनका मन्त्र लोग नहीं जान पाते वह कोश हीन होता हुआ भी पृथ्वी का उपभोग करता है।[3]

राजा और मंत्रि परिषद—डा० काशी प्रसाद जायसवाल के अनुसार हिन्दू संविधान का एक नियम और सिद्धान्त है कि राजा मंत्रिपरिषद् की सहायता और स्वीकृति के बिना कार्य नहीं कर सकता।[4] "It is a law and principle of Hindu Constitution that the king cannot act without the approval and cooperation of the Council of Ministers." मनु ऐसे राजा को मूर्ख संज्ञा देते हैं जो प्रशासन स्वयं अकेले चलाने का प्रयास करेगा। ऐसा राजा आयोग्य है।[5] जैसा कि हम पिछले पृष्ठों में देख चुके हैं कि समस्त प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतक इस विषय पर एक मत हैं कि मंत्रणा राजा के लिए अनिवार्य है। क्या प्राचीन भारतीय राजा मंत्रि-परिषद् की इच्छा के विरुद्ध कोई भी कार्य नहीं कर सकता था? शुक्र ने मंत्री को राज-राष्ट्रभृत कहा है, अर्थात् वह राजा और राष्ट्र

१. डा० अल्तेकर, वही, पृ० १२८
२. अर्थशास्त्र १.१५
३. मनु ७.१४८
४. जायसवाल, काशी प्रसाद, वही, पृ० २८७
५. मनु० ७-३०-३१

दोनों का भार वहन करने वाला और दोनों के प्रति उत्तरदायी थी।[1] 'राजा सदा मंत्रि-परिषद् के निर्देश के अनुसार चलने के लिए बाध्य रहता था, और नहीं तो राष्ट्र संघटन सम्बन्धी नियमों के अनुसार वह वास्तविक राजा नहीं रह जाता था।[2] जायसवाल जी शांति पर्व को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि राजा मंत्रियों के नियंत्रण में सदैव 'परतंत्र' था, वह कभी भी 'स्वतंत्र' न था।[3] जायसवाल जी पुनः मत प्रकट करते हैं कि 'धर्मशास्त्रियों ने यह निर्देश कर रखा था कि यदि मन्त्रि लोग विरोध करें, तो राजा को यह अधिकार नहीं है कि वह किसी वित्तदान तक कर सके। यहाँ तक कि वह ब्राह्मणों को भी इस प्रकार का दान नहीं दे सकता था। यह नियम आपस्तंब के प्राचीन काल का था।'[4] 'In this connection we must also notice the very important constitutional law laid down by Dharma shool of law-givers that it was not competent for the king to make gifts even to the Brahmins if the Ministers "opposed" the gifts. The law is as ancient as the time of Apastamba." दिव्यावदान[5] से ज्ञात होता है कि सम्राट अशोक बौद्ध भिक्षुओं को वित्तदान देना चाहता था, परन्तु मन्त्रि-परिषद और प्रधान-मंत्री राधागुप्त ने अशोक को ऐसा करने से रोका अशोक के शिला-लेख ६ पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि "यदि मैं किसी दान या घोषणा के सम्बन्ध से कोई आज्ञा दूं और मन्त्रिपरिषद् में उसके सम्बन्ध में किसी प्रकार का विवाद उपस्थित हो, तो मुझे उसकी सूचना तुरन्त मिलनी चाहिए। यदि परिषद में मेरे प्रस्ताव के संबंध में मतभेद हो अथवा वह प्रस्ताव बिल्कुल अस्वीकृत हो, तो उसकी मुझे तुरंत सूचना मिलनी चाहिए।'[6] इस पर वह अनुमान लगाते हैं कि 'मंत्री लोग समय-समय पर सम्राट की आज्ञा का भी विरोध करते थे।'[7] इसी

१. शुक्र २.७४

२. जायसवाल, काशी प्रसाद, वही, पृ० ३०६

३. उपर्युक्त पृ० ३०६

४. उपर्युक्त, पृ० २९०

५. दिव्यावदान, पृ० ४३०, ह्वेनसांग हमें सूचित करता है कि श्रावस्ती के राजा विक्रमादित्य ने निश्चय किया कि वह ५ लाख (कार्षापण) प्रतिदिन दान में देगा, तब उसके मन्त्रियों ने इसका विरोध किया था, उन लोगों ने कहा कि निश्चय ही आपका मान बढ़ेगा पर आपके मन्त्री सब लोगों को श्रद्धा खो देंगे। वाटर्स, भाग १, पृ० २११

६. जायसवाल, इण्डियन एन्टाक्वरी, १९१३, पृ० २४२

७. जायसवाल, हिन्दू पालिटी, पृ० २९१

सम्बन्ध में एक और ऐतिहासिक घटना ध्यान देने योग्य है, वह है शक राजा रुद्र-दामन के शासन काल की। जूनागढ़ अभिलेख से ज्ञात होता है कि रुद्रदामन ने सुदर्शन तड़ाग की मरम्मत के लिए आज्ञा दी थी, परन्तु मंत्रियों ने राजा के प्रस्ताव का विरोध धन न देने के रूप में किया, जिस पर राजा को उसका सारा व्यय अपने पास से देना पड़ा था।[1] जायसवाल निष्कर्ष निकालते हैं "इससे प्रमाणित होता है कि हमारे यहाँ के राष्ट्र संगठन सम्बन्धी नियम निर्जीव और शुभ भावना के रूप में नहीं थे, बल्कि वे उसी तरह सजीव और वास्तविक थे, जिस प्रकार पौरों आदि के सम्बन्ध के नियम और कानून थे"[2] It proves that the constitutionl laws were not mere pious wishes, but they were as real as ordinary municipal laws of the law books. परन्तु डॉ० यू० एन० घोषाल जायसवाल जी की व्याख्या से सहमत नहीं है, उनके अनुसार राजा के निश्चय के विरुद्ध मंत्रियों का कदम नहीं था वरन् स्थानीय गवर्नर की सफलता के विरोध में मंत्री गण थे क्योंकि उसके द्वारा यह कार्य करना असम्भव प्रतीत होता था। स्पष्टतः गवर्नर कर्त्तव्य युक्त मन्त्रियों की अपेक्षा अपने को अधिक कुशल सिद्ध कर देना चाहता था, परन्तु मन्त्री अपने स्वामी के धन को व्यर्थ में नष्ट नहीं होने देना चाहते थे, क्योंकि वे सुदर्शन झील का पुनर्निर्माण समझते थे।[3]

> the raference to the ministers opposition occurs nor in the context of the king's decision to pay as above, but in that of tne local governor's achievement in 'carrying out a work thought to be impossible by the ministers Evidently the governor desired to be kuown as a more efffcient officer than even the dutiful ministers who would not let their master waste his funds upon what they considered to be an impossible project.'

मंत्रिपरिषद की कार्यवाही—सामान्य परिस्थितियों में परिषद की अध्यक्षता राजा करता था और यदि परामर्शदाताओं में कोई विरोध भी हो तो भी राजा को

---

१. उपर्युक्त पृ० २६१
२. उपर्युक्त पृ० २६३
३. घोषाल यू० एन० डा०, स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड एण्ड कल्चर, पृ० ४१६, फुटनोट ८,

क्रोध नहीं करना चाहिए।[1] अशोक शिलालेख ६ के अनुसार मंत्रियों के मत विभिन्नता को उसे तुरन्त सूचित किया जाय। डा० अल्तेकर का मत है कि इससे स्पष्ट हो जाता है कि कुछ अवसरों पर राजा के स्थान पर उसके मंत्री मंत्रिमंडल के अधिवेशन की अध्यक्षता करते थे।[2] अशोक के शिलालेख ६ के विषय में डा. जायसवाल[3] के मत से डॉ० बी० एम० बरुआ सहमत नहीं है। डा० बरुआ का अनुवाद इस प्रकार से है—यदि इस सन्दर्भ में मंत्रि परिषद में मतभेद अथवा समझौता हुआ हो तो मुझे तुरन्त किसी भी स्थान पर और किसी भी समय सूचित किया जाना चाहिए। दूसरे अशोक से अन्य अभिलेखों [नवीन अभिलेख, माइनर के शिला अभिलेख (एरामुदी , और स्तम्भ अभिलेख iv] से स्पष्ट हो जाता है कि प्रशासन में उच्च अधिकारियों को निर्देशन देने में अशोक सम्प्रभु सत्ता रखता था। शिलालेख ६ में कहीं भी अशोक का क्रोध नहीं झलकता जैसा कि जायसवाल जी समझते हैं अथवा इसका कारण था कि उसके मौखिक आदेश परिषद द्वारा अमान्य हो गये थे।[4] डा० यू० एन० घोषाल को आपत्ति है कि सामान्य तौर पर यह अधिक असम्भव प्रतीत होता है कि मंत्रियों के हाथों से अपनी पराजय को अशोक अपने साम्राज्य के दूर-दूर कोनों में प्रदर्शित करेगा।[5] डा० अल्तेकर का कथन है कि सम्राट के मौखिक आदेश तथा महत्वपूर्ण अवसरों पर विभागाध्यक्षों द्वारा लिए गए निश्चयों का मंत्रि परिषद पुनर्विचार करने का अधिकार रखती थी। यह केवल रिकार्ड रखने की संस्था नहीं थी, परन्तु कभी-कभी राजा के आदेशों को संशोधन करने का सुझाव देती थी,

---

१. बार्हस्पत्य-अर्थशास्त्र २.५३

२. It is therefor clear that on some occasions not the king but ene of his ministers presided overe the cabinet meeting—देखिए उपर्युक्त मंत्रिपरिषद की मन्त्रणा। डा० अल्तेकर, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियण्ट इण्डिया, पृ० १७४

३. देखिए ऊपर के पृष्ठों में

४. बरुआ, बी० एम० अशोक एण्ड हिज इंसक्रिप्सन्स, आलोचना के लिए देखिए पृ० २८५-८५, २९६-९७

५. On general grounds, again, it is highly improbable that Asoka should publicise in the distant corners of his empire his comfiture at the hands of his ministers.—घोषाल, यू० एन०, वही पृ० ४१७

अथवा उनके पूर्ण बदलने की संस्तुति देती थी ।[1] इससे प्रकट होता है कि मंत्रिमंडल की शक्तियाँ वास्तविक तथा विस्तृत थी ।[2]

मंत्रिपरिषद् की कार्यवाही लिपिबद्ध की जाती थी । अशोक के छठे शिलालेख से ज्ञात होता है कि उसके आदेश मौखिक भी होते थे; इससे स्पष्ट होता है कि साधारण तौर पर आज्ञाएँ लिखित भी हुआ करती थीं । इसकी पुष्टि अर्थशास्त्र द्वारा होती है । इसके अनुसार जो मन्त्री राजा के सामने उपस्थित नहीं होते थे, वे राजा के लिए सब बातें लिख रखते थे ।[3] शुक्र इस सम्बन्ध में बहुत महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करते हैं । किसी विषय के मंत्रियों के यहाँ से होकर राजा के पास पहुंचने और तब मन्त्रि परिषद में निश्चय का रूप प्राप्त करने का ज्ञान शुक्रनीति से होता है । मन्त्री जिसके विभाग से विषय मौलिक रूप से सम्बन्धित था, जब उसका निर्धारण होता था, तो कार्यवाही को लिपिबद्ध करके जिसमें निश्चय जो लिया गया था सम्मिलित रहता था, साथ ही उसके अंत में अपनी स्वीकृति लिखकर और उसे सील कर राजा के पास उसकी स्वीकृति के लिए भेज दिया जाता था । राजा द्वारा अंतिम स्वीकृति पाने पर उसको कार्यान्वित करने के लिए विभाग को भेज दिया जाता था ।[4] पर इस सम्बन्ध में शुक्र ने कहा है कि "जिस लेख्य पर राजा के हस्ताक्षर और मुद्रा अंकित हो, वही लेख्य राजा है, स्वयं कुछ नहीं है ।"[5] इसलिए हस्ताक्षर और रहित अस्ति-मांस के राजा की जो आज्ञा मानता था वह चोर था ।[6]

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या प्राचीन काल में सभी राजा मन्त्रिपरिषद की बात मानते थे ? क्या मंत्रिपरिषद इतना शक्तिशाली थी कि राजा को मन्त्रियों की संस्तुतियों का अनुसरण करना पड़ता था ? मन्त्रियों की नियुक्ति राजा करता था यह बात सही है । अतः यह स्वाभाविक है कि मंत्री का अस्तित्व राजा की इच्छा पर निर्भर करता था । प्रत्यक्ष रूप में वह राजा के प्रति जिम्मेदार था । मंत्री का प्रभाव उसकी व्यक्तिगत दक्षता पर निर्भर करता था । चुल्लवग्ग से ज्ञात होता है कि बिम्बि-

---

1. 'It was not merely a recording body, for very often it used to suggest amendments ta king's orders or even recommend their total reversal.'—डॉ० अल्तेकर, स्टेट एण्ड गवर्नमेंन्ट इन एन्शियेण्ट इण्डिया, पृ० १७५
२. उपर्युक्त पृ० १७५
३. अर्थशास्त्र १ १५/११ अनासन्नेस्सह पत्रसंप्रेषणेन मंत्रयेत् ।
४. शुक्र २/३६३.७
५. शुक्र २.२९२
६. उपर्युक्त, पृष्ठ २,२९१

सार जैसे स्वाभिमानी और शक्तिशाली राजा मन्त्री को पदच्युत कर देते थे।[१] ऐसे राजा के अन्तर्गत मन्त्रियों की स्थिति बड़ी शोचनीय रहती थी। राजा को अप्रसन्न और अच्छी न लगने वाली सलाह देने पर मन्त्रियों को समाप्त कर दिया जाता था और उनकी सम्पत्ति को राज्य हड़प लेता था।[२] पर जब राजा कमजोर होता था और मंत्री शक्तिशाली होता था तब भी दोनों के सम्बन्ध अच्छे नहीं रहते थे, क्योंकि मंत्रीगण शासक के सम्मुख अनेकों विपदाओं को खड़ा करेंगे और षडयन्त्र रचेंगे।[३] ऐतिहासिक काल में अन्तिम शुङ्ग शासक और परवर्ती चालुक्य वंशों में ऐसी घटनाएं घटी थीं। परन्तु सदैव ऐसी घटनाएँ नहीं होती थीं। सामान्यतः राजा मंत्रियों का आदर करते थे। मंत्री राज्य के स्तम्भ और राजा मंत्रियों की सलाह को मानते थे यद्यपि अंतिम रूप से जिम्मेदारी राजा पर ही रहती थी।[५] मन्त्रियों का कर्त्तव्य था कि राजा को गलत पथानुगामी न होने दें।[६] राष्ट्रकूट सम्राट कृष्ण तृतीय (९५० ई०) अपने परराष्ट्र मंत्री नारायण को दाहिना हाथ समझता था।[७] यादव राजा कृष्ण अपने प्रधान मंत्री को अपने मुख से दाहिना हाथ कहता था।[८] कभी-कभी शक्ति शाली राजा ललितादित्य अपने मंत्रियों को ये आदेश देते थे कि वे ऐसे आदेशों को कार्यान्वित न करें जिन्हें वे उचित न समझते हों अथवा जब वह पूर्ण होश में न हो तब आदेश दिए हों।[९] मंत्री ऐसी भी स्थिति में होते थे जब वे राजा का निर्वाचन तक कर सकते थे। उदाहरणार्थ मौखरी-मन्त्रियों ने हर्ष को कन्नौज के सिंहासन के लिए चुना था।

यह बड़े खेद का विषय है कि पूर्वगुप्त युग में अशोक और महाक्षत्रप रुद्रदामन के समय मंत्रिपरिषद की शक्ति और कार्यवाहियों पर साक्ष्य उपलब्ध है। पर गुप्त युग और मध्ययुगीन काल में मन्त्रिपरिषद कैसे कार्य करती थी उसका स्वरूप क्या था। इस बारे में हमारे पास कोई ठोस प्रमाण नहीं है। हम अनुमान लगा सकते है कि अशोक युगीन मन्त्रिपरिषद की भांति परवर्ती युगों में भी मन्त्रिपरिषद कार्य करती रही होगी।

---

१. चुल्लवग्ग, ५/१
२. राजतरंगिणी, २/६८, ६.३४२
३. पञ्चतंत्र, पृ० ३६
४. पंचतंत्र पृ० ६६
५. अर्थशास्त्र, १/१५
६. उपर्युक्त, १/३ ये एनमपायस्थानेभ्यो वारयेयुः। देखिए कामन्दक, ४/१४
७, तस्य यः प्रतिहस्तोऽभूत्प्रियो दक्षिणहस्तवत्। एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द ४, पृ० ९०
८. इण्डियन एन्टिक्वरी, जिल्द १४, पृ० ७
९. राजतरंगिणी, ४.३२०

अध्याय : ७

गणराज्य

उत्पत्ति एव विकास—

वैदिकयुगीन राज्य नृपतंत्रात्मक थे। परन्तु उत्तर वैदिक युग में इस व्यवस्था में एक परिवर्तन आया। इसकी पुष्टि यूनानी लेखक मेगास्थनीज द्वारा होती है। उसके अनुसार चौथी शताब्दी ई० पू० में भारत में एक परम्परा प्रचलित थी जिसके अनुसार प्रजातंत्र का विकास राजतंत्र के बाद माना जाता था।[1] इस प्रकार कई पीढ़ियाँ व्यतीत होने पर नृपतंत्र समाप्त हुआ और उसका स्थान प्रजातंत्रात्मक प्रणाली ने ले लिया, पुराणों में वृद्धि के पूर्व जो राजवंशावली है उससे प्रकट होता है कि छठी शताब्दी ई० पू० के मद्र, कुरु पाञ्चाल, शिवि और विदेह गणतंत्र पहले नृपतंत्र ही थे।[2]

ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त के अनुसार समिति की मंत्रणा एक मुखी हो, सदस्यों के मन भी परम्परानुकूल हो और निर्णय भी सर्व-सम्मत हो।[3] इस सूक्त का संकेत गणतंत्र की समिति की ओर भी हो सकता है, पर साधारणतः समिति का सम्बन्ध राजा से होता था, अतएव इस बात में संदेह है कि उसका तात्पर्य गणतंत्र की केन्द्रीय समिति से रहता हो।[4] केवल इस सूक्त के आधार परवैदिक युग में गणतंत्रात्मक प्रणाली को हम सिद्ध नहीं कर सकते हैं। ऋग्वेद के अन्य स्थल पर राजाओं के समिति में होने का वर्णन किया गया है;[5] दूसरे स्थल पर कहा गया है कि राजा वह हो सकता है जिसे अन्य राजा लोग स्वीकार करें।[6] अन्य राजा सम्भवतः विश्पति हैं और

---

१. मिक्रिन्डल, मेगास्थनीज, पृष्ठ ३८/४०
२. डॉ० अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० ४८
३. समानो मन्त्रः समितिः समानो समानं मनः सहचित्तमेषाम्। ऋग्वेद १/१९१/३
४. डॉ० अलतेकर, वही, पृ० ८४
५. ऋग्वेद, १०/९७/६
६. शतपथ ब्राह्म, ९/३२/५

वह राज्य भी बाद के प्रजातन्त्र के प्रकार का था। राज्यशक्ति सर्वसाधारण जनता के हाथ में न होकर विशों के मुखियों के हाथ में थी। यदि इनके द्वारा स्वीकृति अध्यक्ष या अधिपति का पद आनुवंशिक हो जाता था तो राज्य नृपतन्त्र में परिवर्तित हो जाता था। पर यदि, जैसा अल्तेकर महोदय सोचते हैं, विशपति या सरदारों द्वारा स्वीकृत अधिपति के अधिकार की काल मर्यादा समिति होती थी और उसका पद आनुवंशिक न होने पाता था तो बाद में चलकर यही राज्य परवर्तीकाल के क्षत्रिय गणराज्य के रूप में विकसित हो सकता था।

ब्राह्मण साहित्य द्वारा पता चलता है कि प्राच्यों के राजा सम्राट कहे जाते थे, सात्वतों के राजा भोज तथा नीच्यों और आपाच्यों के राजा 'स्वराट्' कहे जाते थे, और उत्तर-मद्र तथा उत्तरकुरु आदि हिमालय के उत्तर के प्रदेशों में 'वैराज्य' व्यवस्था, थी और वहाँ के लोट 'विराट' शब्द से सम्बोधित किये जाते थे 'स्वराट' और 'भोज' उपाधियों के अर्थ के विषय में मतभेद है। डॉ० जायसवाल का मत है कि ये प्रजातन्त्र राज्य थे, पर यह संभव नहीं प्रतीत होता। डॉ० अल्तेकर के अनुसार इसमें कोई संदेह नहीं है कि उत्तर कुरु और उत्तर माद्र में वैराज्य गणतन्त्र ही थे क्योंकि विराट सम्बोधन उनके राजाओं का नहीं वरन् नागरिकों का है उत्तर-कुरुओं और उत्तर-मद्रों के देश चौथी शती ई० तक गणतन्त्र व्यवस्था थी।

'गण' और 'सङ्घ' शब्द में क्या अन्तर है ?

प्राचीन भारत में प्रजातन्त्र राज्यों के लिये संघ शब्द का भी प्रयोग हुआ है। पाणिनि ने संघ और गण को पर्यायवाची शब्दों के रूप मे प्रयोग किया। संघ के अन्तर्गत अष्टाध्यायी में जिन राज्यों का उल्लेख किया गया है वे सब गण अथवा प्रजातन्त्र हैं जैसे योधेय,[१] मद्र,[२] वृजि[३] तथा अन्धक वृष्टि।[४] कौटिल्य ने भी प्रजा-तन्त्र राज्यों के लिये संघ शब्द का प्रयोग किया है। बौद्ध साहित्य में प्रजातन्त्र राज्यों के लिये सघ और गण शब्द साथ-साथ प्रयोग किये गए हैं।[५]

डा० डी० आर० भण्डारकर के अनुसार पाणिनि द्वारा उल्लिखित संघ और गण शब्दों का अर्थ है 'एक निश्चित उद्देश्य हेतु व्यक्तियों का गठन' (a combination of individuals formed for a definite object), 'एक निश्चित

---

१. अष्टाध्यायी, ५/३/११७
२. ३ उपर्युक्त ४/२/१३१
३. उपर्युक्त, ६/२/२४
४. इमेसल पि हि भो गोतम; संघानम् गणानम् सेयथीदम वज्जीनम् मल्लानम्।
५. मज्झिमनिकाय १/४/५/३८

आशय हेतु व्यक्तियों की संगठिक संस्था' (a corporate body of individuals formed for definite purpose)। इसी प्रकार डा० आर० सी० मजूमदार का मत है कि 'नियमों और कानूनों द्वारा बन्धी निश्चित संस्था' (a definite organisation bound by laws and regulations) परन्तु डॉ० काशी प्रसाद जायसवाल पाणिनि और पालि धार्मिक वाङ्मय के आधार पर निष्कर्ष निकालते हैं कि मूल रूप में संघ और गण का प्रयोग गणतन्त्रों के लिये हुआ था और धार्मिक संघों का उदय बाद में हुआ है।[1]

पाणिनि की अष्टाध्यायी में वर्णित गणराज्य

पाणिनि ने सर्व प्रथम आयुधजीविन संघों को बताया है, ये निम्नलिखित हैं।—

(१) वृक[2]

(२) दामणि[3]

(३) 'त्रिगर्तषष्ठ'[4]—इसमें छः प्रजातन्त्र राज्य सम्मिलित थे। काशिका[5] के अनुसार ये निम्नलिखित हैं :—

(अ) कौण्डो परथ

(ब) दण्डक

(स) कौष्ठकि

(द) जालमानि

(ह) ब्राह्मगुप्त

---

१. संघ और गण शब्द की व्याख्या के लिये देखिए—भंडारकर, डी० आर० डॉ०, लेक्चर्स आन एन्शियन्ट हिस्ट्री आफ इण्डिया (कारमिकाइल लेक्चर्स) कलकत्ता १९१९, पृ० १४२-१४६, मजूमदार, आर० सी० डॉ०, कारपोरेट लाइफ इन एन्शियन्ट इण्डिया, पृ० १२१, जायसवाल, काशी प्रसाद, हिन्दू पालिटी, पृ० ३१ ३२, ४९, ५१

२. अष्टाध्यायी, ५/३/११५

३. उपर्युक्त, २/३/११६

४. उपर्युक्त, ५/३/११६

५. काशिका, पृ० ४५६ःआहुस्त्रिगर्त्त षष्ठांस्तु कौण्डीपरथदण्ड को।

कोष्टुकिजलिमानिश्च ब्रह्मगुप्तोऽथजानकिः ॥

(व) जानकि [जालकि], ४-यौधेय[1] ५-पार्श्व[2]

पाणिनि के अनुसार उपर्युक्त गणराज्य वाही देश में स्थित थे। महाभारत में वर्णित वाहिकों का समीकरण पंजाब प्रांत से किया गया है।[3] काशी प्रसाद जायसवाल का मत है कि वहीक भूमि के अन्तर्गत सिंध घाटी और पंजाब आते थे।[4] महाभारत द्वारा ज्ञात होता है कि वाहीक देश हिमालय से दूर था।[5]

पाणिनी ने अन्य गणतंत्रों का उल्लेख किया है वे निम्न प्रकार से हैं :—

(१) भद्र[6]

(२) वृजि[7]

(३) राजन्य[8]

(४) अंधक-वृष्णि[9]

(५) महाराज[10]

(६) भर्ग[11]

आयुधजीवी संघ :—आधुनिक विद्वानों में आयुधजीवी शब्द की व्याख्या करने में मतैक्य नहीं है। डा० भण्डारकर ने इसका अर्थ 'वेतन भोगी जातीय दल (tribal band of mercenaries) से लिया। राजा की सेना में एक प्रकार था। डा० जायसवाल के अनुसार ये ऐसे प्रजातांत्रिक राज्य थे जो सैन्य कला को अपने संविधान की महत्वपूर्ण विशेषता समझते थे (those republics which considerd military art as the vital principle of their constitution)। कौटिल्य ने दो प्रकार के गणराज्य बताए हैं।—(१) राज शब्दोपजोविन : तथा (२) वार्त्तशस्त्रोपजीविनः।[12] प्रथम कोटि के संघों में वे गणराज्य आते हैं जिनमें राजा

---

१. अष्टाध्यायी ५/३/११७

२. उपर्युक्त ५/३/११७

३. एस० लेवी, इन्डियन एन्टीक्वरी, जिल्द ३५ (१९०६) पृ० १८

४. जायसवाल, काशी प्रसाद वही, पृ० ३५

५. कर्णपर्व ४४/६

६. अष्टाध्यायी ४/२/१३१

७. उपर्युक्त ४/२/१३१

८. उपर्युक्त ४/२/५३

९. उपर्युक्त ६/२/३४

१०. उपर्युक्त ४/३/६७

११. उपर्युक्त ४/१/१७९

१२. अर्थशास्त्र ११/१

शब्दों का प्रयोग किया जाता था। अर्थशास्त्र में इस श्रेणी में लिच्छवि, पाञ्चाल, मल्लक आदि का उल्लेख किया गया है। दूसरी कोटि के संघों में वे गणराज्य आते थे जिनके नागरिक कृषि तथा सैनिक निपुणता को अपने जीवन का आधार मानते थे। वहाँ उपजीवी का अर्थ निर्वाह करना नहीं हो सकता है क्योंकि राजा उपाधि धारण कर कोई गणतंत्र नहीं रह सकता है।[१] मनु (१०/७४) को उद्धृत करते हुए डा० जायसवाल निष्कर्ष निकालते हैं कि उपजीविन का अर्थ 'पालन करना' (to observe) है।[२] इस दृष्टिकोण से 'राजशब्दोपजीविन' ऐसा संघ था जो राजा का उपाधि प्रयोग करता था 'शस्त्रोपजीविन' ऐसा संघ था जों हथियारों अथवा सैन्य कला का प्रयोग करतें थे।[३] पाणिनि का 'आयुधजीवि' कौटिल्य का 'शस्त्रोपजीवि' ही है। यूनानी लेखकों ने कई गणराज्यों का वर्णन किया है जिनमें कि दो क्षुद्रक और मालव अष्टाध्यायी के है।[४] डा० आर० सी० मजूमदार के अनुसार 'वार्ताशास्त्रोजीविन' 'स्वतंत्र राजनैतिक संघटन था' और 'राजशब्दोपजीविन' ऐसा 'संगठन जिसमें राजा उपाधि का प्रयोग' किया जाता था। परन्तु डा० भंडारकर ने 'कौटिल्य द्वारा वर्णित संघों को तीन प्रकार का बताया है :—(१) वार्तोपजीविन (श्रेणी), (२) शस्त्रोपजीविन (वेंतनभोगी जातीय दल), और (३) राजशब्दोपजीवि (ऐसा संगठन जिसके सदस्य राजा की उपाधि धारण करते थे)।[५] डा० यू० एन० घोषाल ने अपना मत प्रकट किया है कि 'शस्त्रोपजीविन' ऐसी संघटित संस्था थी जिसमें व्यक्ति, संधि-विग्रह का पालन करते थे जबकि इसके विपरीत 'राजशब्दोपजीविन ! राजनीतिक समाज था जिसमें राजा उपाधि का प्रयोग कार्यपालिका-अध्यक्ष (executive head) के लिये होता था।[६]

१—जायसवाल, हिन्दू पालिटी, पृ० ३३

२—जायसवाल, उपर्युक्त, पृ० ३३

३—उपर्युक्त, पृ० ३३

The Samghas called 'sastropajivins' observed the practice of arms or military art and that of the samghas called 'Rajasabopajivins observed the practice of assuming the title rajan.

४—उपर्युक्त, पृ० ३४

५—जायसवाल, वही, ३३-३४, भंडारकर, वही, पृ० १४४, मजूमदार, वही, पृ० २२३ और २५०

६—घोषाल, यू० एन० डा०, स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० ३६३-६४

बुद्ध कालीन प्रजातन्त्र और उनकी संवैधानिक विशेषताएँ

प्राचीन पालि और जैन-ग्रंथों में निम्नलिखित गणराज्यों की सूची प्राप्त होती है :—

(१) कपिलवस्तु के शाक्य
(२) सुसुगार गिरि के भग्ग
(३) अल्लकप्प के बुलि
(४) केशपुत्त के कालाम
(५) पिप्पलिवन के मोरिय
(६) रामगाम के कोलिय
(७) कुशीनारा के मल्ल
(८) पावा के मल्ल
(९) मिथिला के विदेह
(१०) वैशाली के लिच्छवि

बौद्ध साहित्य में उपर्युक्त गण राज्यों का वर्णन हुआ है। परन्तु यह बड़े अभाग्य का विषय है कि कपिलवस्तु के शाक्य और वज्जि संघ—जिनमें सबसे महत्व-शाली वैशाली के लिच्छवि थे—के अलावा हमें कहीं भी उनके संविधान के बारे में विशद विवरण नहीं प्राप्त होता है। डॉ० आर० सी० मजूमदार के अनुसार इनका प्रशासन सर्वोच्च सभा द्वारा संचालित होता था, जिसका संगठन वृद्ध और युवक सदस्यों द्वारा होता था, सभा का अधिवेशन लगातार होता था, जिसमें राज्य से सम्बन्धित महत्वपूर्ण विषयों एवं प्रश्नों पर विचार-विमर्श होता था।[1]

राज्य का एक अध्यक्ष होता था जिसका निर्वाचन १ वर्ष के लिए होता था, जो कि मुख्य शासन कर्त्ता के कार्य करता था। डॉ० मजूमदार पुनः कहते हैं कि मल्लों और लिच्छवियों में और सम्भवतः दूसरे भी गणों में कार्यकारिणी सभा (executive council) में ६ सदस्य होते थे। राज्य और सभा के सदस्य राजा कहलाते थे, जो कि सम्भवतः राज-पुरुष (King Consul) थे। स्थान जहाँ सभा का अधिवेशन होता था संथागार कहलाता था। लगभग यही मत शाक्यों के बारे में

१. दि एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ० ३३१. 'These were ruled by a supreme assembly consisting of both old and young members, which frequently met and fully discussed all, important questions concerning the state.'

डेविड्स ने व्यक्त किये हैं।[१] परन्तु राज्य के अध्यक्ष के बारे में वह निश्चित नहीं हैं। उनका कहना है कि इस जाति का मुखिया कितनी अवधि के लिए निर्वाचित होता था हम नहीं जानते हैं।

सर्वोच्च सभा के कुछ विवरण बाद की जातक कहानियों से प्राप्त होते हैं। लिच्छवियों की सभा के बारे में आधुनिक विद्वानों में मतभेद है। उसका कारण है दो पालि साहित्य एकपण्ण जातक (संख्या १४९) की भूमिका और बुद्धघोष की सुमंगल विलासिनी की अलग-अलग व्याख्या विद्वानों ने अपने अनुसार की। फौलबाल्ल (faulboll) के जातक साहित्य के संस्करण के अनुसार 'उस शहर (वैशाली) में साम्राज्य के संचालन करने के लिये सदैव सात हजार सात सौ और सात राजा थे और उतनी ही संख्या वाइसरायों, सेनापतियों और कोषाध्यक्षों की थी।' इससे भिन्न पाठ करते हुए डॉ० जायसवाल ने अपना मत व्यक्त किया है कि शासन (रज्जम्) ७७०७ वहाँ के रहने वाले व्यक्तियों में निहित था, वे सब प्रशासन करने (राजून) अधिकारी थे। उन्हीं में से अध्यक्ष (राजानों), उपाध्यक्ष (उपराजानों), सेनापति और भंडागारिक होते थे। डॉ० जायसवाल पुनः कहते हैं कि ७७०७ वहाँ के रहने वाले प्रशासकीय वर्ग के सम्भवतः मूल परिवार थे और यही कारण है कि कार्यकारिणी के सदस्य बनते थे।[२] पूर्ण जनसंख्या बहुत अधिक थी; वे बाह्य और अन्तर्नागरिकों में विभक्त १,६८,००० थे।[३] डॉ० आर० सी० मजूमदार के अनुसार लिच्छवि सभा में ७७०७ राजा अथवा सदस्य थे जिनका अभिषेक संस्कार नृपतन्त्र जैसा होता था।[४]

उनमें से प्रत्येक का एक 'उपराजा' एक सेनापति' और एक कोषाध्यक्ष था। दूसरे शब्दों में लिच्छवि गणराज्य छोटी-छोटी प्रशासकीय इकाइयों में विभक्त था,

---

१. डेविस, रिज, बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० १९
२. जायसवाल, वही, पृ० ४७, ४८, The rule (rajjam) vested in the in habitants (vasantanam), 7707 in number all of whom were entitled to rule (raj unam 'King'), They became Presidents (Rajano). Vice-Presidents (Upa-rajano)' Commanders-in-chief (Sena-patino) and Chancellors of the Exchequer. What the Jataka means to say is that the 7707 of inhabitants, probably the foundation families, were the ruling class that is they, who became (honti become') the executive office holder'.
३. उपर्युक्त, पृ० ४८
४. जातक IV, पृ० १४८ 'वेसालिनगरे गण राजकुलानं अभिषेक पोक्खरणिम्'

जिनके अध्यक्षों द्वारा केन्द्र में सर्वोच्च सभा का संगठन होता था। प्रसिद्ध विद्वान फिर कहते हैं कि 'जो कुछ भी हम सोच सकते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं कि लिच्छवियों की सर्वोच्च सभा का संगठन बहुत से सदस्यों द्वारा होता था और इस प्रकार से इसे लोक संस्था समझा जा सकता था।[1] कुछ विद्वानों का मत है कि इतनी बड़ी संख्या का चुनाव अपीलों से होता था।[2] डॉ० डी० आर० भंडारकर ने अपना मत प्रकट करते हुये कहा है कि लिच्छवि राजाओं की संख्या बहुत बड़ी है और सम्पूर्ण गण किसी भी मनुष्य को अपने साम्राज्य से निकाल सकता था तथा उसे नष्ट कर सकता था। उनके अनुसार लिच्छवि गण विभिन्न जाति के मुखियों का संघ था और प्रत्येक संघीय इकाई अपनी अन्तः स्वतन्त्रता बनाए थी और संघ सर्वोच्च और स्वतन्त्र नियन्त्रण बनाए था और उन विषयों में हस्तक्षेप करता था जो कि साम्राज्य को किसी प्रकार से प्रभावित करने वाले रहते थे।[3] डॉ० यू० एन० घोषाल का मत है कि ७७०७ लिच्छवि सरदार राजधानी में रहते थे और उसके हाथ में सम्प्रभु सत्ता थी।[4] वह पुनः कहते हैं कि लिच्छवि सभा लोक संस्था' (popular body) नहीं हो सकता है।[5]

सभा में महत्वपूर्ण विषयों पर वाद-विवाद होता था। गौतम बुद्ध ने इसकी कार्यवाही की अति प्रशंसा की है। विद्वानों का मत है कि गौतम बुद्ध ने लिच्छवि तथा अन्य गण राज्यों से प्रभावित होकर अपने संघ में प्रजातन्त्रात्मक संविधान को अपनाया।

बौद्ध साहित्य द्वारा संघ की प्रजातंत्रात्मक सरकार के नियम और अधिनियमों के बारे में ज्ञान होता है। कुछ विद्वानों का मत है कि ये गणतंत्रात्मक राज्यों के प्रजातंत्रात्मक संविधान के समान हैं। डॉ० मजूमदार का कथन है कि इसकी बहुत अधिक सम्भावना है, पर कोई स्थापित तथ्य नहीं है। यदि इसे हम स्वीकार कर लें, तो निम्नलिखित सामान्य तथ्य गणतन्त्रात्मक संविधान के लिए मिलते हैं—

---

१. दि एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ० ३३२ ; एन्शियन्ट इण्डिया, पृ० १६४ ; कारपोरेट लाइफ इन एन्शियन्ट इण्डिया देखिए पृ० ९३:९४, 'Whatever we think of the number 7707, there is no doubt the supreme assembly of the Lichchhavis consisted of a large number and as such may be regarded as a popular body.
२. इन्डियन हिस्टारिकल क्वाटंरिली, जिल्द २०, पृ० ३३४
३. भंडारकर, डी० आर० डॉ०, लेक्चरर्स आन एन्शियन्ट हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ० १५५-५६
४. घोषाल, यू० एन० वही, पृ० ३८४, ७७०७ Nobles lived at the capital exercising sovereign authority for life.
५. उपर्युक्त, पृ० ३८४, इसका कारण घोषाल महोदय ने बताया है कि लिच्छविगण में सब वर्गों को समान प्रतिनिधित्व नहीं प्राप्त था।

(१) सभा में प्रस्ताव को प्रस्तावित करने के लिए निश्चित नियम थे। सामान्यतः प्रस्ताव की तीन बार पुनरावृत्ति होती थी, यदि कोई विरोध नहीं होता था तो इसे पारित समझा जाता था। यदि कोई विरोध होता था, तो सभा में निश्चय बहुमत के मत पर आधारित होता था। मतों की गणना के लिए निश्चित नियम थे। इस कार्य को करने के लिए निश्चित नियम थे। इस कार्य को करने के लिए एक विशेष अधिकारी की नियुक्ति की जाती थी। मत देने में मतदान पत्र का प्रयोग होता था।

(२) जटिल प्रश्नों को समितियों में भेज दिया जाता था।

(३) 'कोरम' या गण पूर्ति के लिए निश्चित नियम बनाए गए थे।

न्याय-प्रशासन—बुद्ध-घोष की टीका द्वारा लिच्छवियों और वज्जियों के संघों में न्याय-प्रशासन पर महत्वपूर्ण विवरण प्राप्त होता है। इसके अनुसार व्यवस्थित न्यायालयों की शृङ्खला थी, जिसकी अध्यक्षता अधिकारियों द्वारा होती थी। निम्न न्यायालय की अध्यक्षता 'विनिच्चयमहामात्त करता था तथा सर्वोच्च न्यायालय की अध्यक्षता 'राजा' करता था। न्यायालयों की ज्येष्ठतानुसार क्रमागत शृङ्खला निम्न प्रकार से थी—

(१) राजा
(२) उपराजा
(३) सेनापति
(४) अट्ठकुलक
(५) सुत्तधर
(६) वोहारिक
(७) विनिच्चयमहामात्त

दोषी को गिरफ्तार करके सबसे पहले 'विनिच्चयमहामात्तों' के सामने लाया जाता था, यदि वे उसे निर्दोष समझते थे तो उसे मुक्त कर देते थे अन्यथा 'वोहारिक' के पास उसे भेज दिया जाता था यदि 'वोहारिक' दोषी को अपराधी पाते थे तो 'सूत्तधरों' के पास दोषी को भेज दिया जाता था और इसी प्रकार 'सूत्तधर' 'अट्ठकुलों' के पास और 'अट्ठकुल' 'सेनापति' के पास 'सेनापति 'उपराजा' के पास और 'उपराजा' 'राजा' के पास अपराधी को भेज देते थे। 'राजा' दोषी को निरपराध साबित होने पर उसे मुक्त कर देता था अन्यथा 'पवेणिपोत्थक' (प्रमाणों की पुस्तक—Book of precedents) के अनुसार उस व्यक्ति को राजा दण्ड देता था। अतः डॉ० जायसवाल का मत है कि एक नागरिक तब तक दोषी नहीं ठहराया जा सकता था जब तक 'सेनापति' 'उपराजा' और 'राजा' अलग-अलग बिना प्रतिरोध के विचार

न कर लें। नागरिक की स्वतन्त्रता की रक्षा होती थी।[१] डॉ० आर० सी० मजूमदार के अनुसार किसी भी हालत में प्रजातन्त्रात्मक दृष्टिकोण से यह नागरिक की स्वतंत्रता को स्थापित करता है, जिसकी तुलना विश्व के इतिहास में नहीं की जा सकती है।[२] अक्षरशः सत्य हो या न हो फिर भी लच्छवि संविधान के उच्चकोटि की प्रजातन्त्रात्मक विशेषता को प्रतिबिम्बित करता है।[३] न्यायिक प्रशासन की सत्यता पर सन्देह किया जा सकता है क्योंकि बुद्ध-घोष बहुत बाद में हुए हैं, परन्तु बुद्ध-घोष की रचना वज्जियों की प्राचीन परम्पराओं (पोराण वज्जिधम्म) पर आधारित है। डॉ० घोषाल का मत है कि बौद्ध-लेखक ने अपने ग्रन्थ में उन सब अधिकारियों का समावेश किया है जो कि किसी भी समय न्यायिक कार्यों से सम्बन्ध रखते थे और वज्जियों और उनकी प्रशंसा करने के लिये अधिकारियों की सूची में बाद में कुछ और अन्य नाम बढ़ा लिए।[४] नागरिकों की स्वतन्त्रता पर टिप्पणी करते हुए डाक्टर घोषाल ने कहा है कि यदि यह मान लें कि वज्जि राज्य में कोई भी व्यक्ति अपराधी नहीं ठहराया जा सकता था जब तक सातों क्रमिक न्यायालय से मतैक्य होकर दोषी न पावें। इसका अर्थ यह हुआ कि उस राज्य की सर्वोच्च सत्ता संकुचित थी या न्यायिक दक्षता में विश्वास नहीं रखती थी अथवा उसे अपने अधिकारियों की ईमानदारी पर भरोसा न था।[५]

अन्य गणराज्यों की प्रशासकीय कार्यवाहियों के बारे में हमारा ज्ञान बहुत सीमित है: बौद्ध एवं अन्य ग्रन्थों में छितरें हुए विवरणों से कपिलवस्तु के शाक्यों के बारे में कुछ जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। प्रोफेसर रिज डेविड के अनुसार इस जाति

---

१. जायसवाल, वही, पृ० ४६

२. मजूमदार, दी एज आफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ० ३३३, In any case, it upholds a democratic view of the liberty of a citizen which has probably no parallel in the history of the world'. इसके साथ ही देखिये मजूमदार कृत एन्शियन्ट इण्डिया, पृ० १६२ तथा कारपोरेट लाइफ इन एन्शियन्ट इण्डिया, पृ० १९५-९६

३. मजूमदार दि एज आफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ० ३३३. Whether literally true or not it reflects a general belief in the ultra-damocratic character of the Lichchhavi constituti on."

४. घोषाल, वही, पृ० ३८७ ८८

५. उपर्युक्त, पृ० ३८७

की प्रशासकीय एवं न्यायिक कार्यवाही लोक सभा में होती थी जिसमें युवक एवं वृद्ध समान रूप से कपिलवस्तु की संथागार में भाग लेते थे। एक व्यक्ति को सत्र की अध्यक्षता हेतु निर्वाचित किया जाता था, परन्तु कितनी अवधि के लिए यह ज्ञात नहीं है। यदि सत्र नहीं होता था तो अपने-अपने राज्य में शासन करते थे। उसकी उपाधि राजा होती थी। विनय पिटक (२·१८१) में बुद्ध के चचेरे भ्राता भद्दिय को राजा कहा गया है, बुद्ध के पिता शुद्धोदन शाक्य को साधारण नागरिक की संज्ञा दी गयी है। डॉ० भंडारकर रिज डेविड के मत से सहमत नहीं है क्योंकि भद्दिय शाक्य राजा केवल अपने वंश का नेता ही न था परन्तु वास्तविक शासक अथवा राजा था। बुद्ध के समय में नृपतंत्र निर्वाचित नहीं था वरन् आनुवंशिक था और केवल प्रेसीडेन्ट (अध्यक्ष न होकर एक शासक था। डाक्टर आर० सी० मजूमदार ने कुछ जातक संदर्भों को उद्धृत कर रिज डेविड का समर्थन किया है और डाक्टर भंडारकर का खंडन किया है। उनके अनुसार भद्दिय शाक्य राजा आनुवंशिक नृप नहीं कहा जा सकता है क्योंकि जातक संदर्भ निस्संदेह प्रदर्शित करते हैं कि लिच्छवियों के समान शाक्यों के भी कई राजा थे, वे सम्भवतः राज्य पर प्रशासन करने वाली सर्वोच्च सभा के सदस्य थे। एक जातक (५·४३६) के आधार पर प्रसिद्ध विद्वान पुनः निष्कर्ष लगाते हैं कि लिच्छवि राजाओं की भांति शाक्य राजा भी छोटी-छोटी प्रशासकीय इकाइयों के अध्यक्ष थे। डाक्टर बी० सी० सेन उससे सहमत नहीं है कि लिच्छवि राजाओं के समान शाक्यों का साम्राज्य सघीय इकाइयों में विभक्त था। डाक्टर अल्तेकर ने भी अपना मत व्यक्त किया है कि शाक्यों का संथागार वर्णित करते हुए जातक साक्ष्य सम्पूर्ण राज्य पर प्रशासन करते हुए आनुवंशिक राजा का उल्लेख नहीं करते।

डाक्टर यू० एन० घोषाल शाक्यों के संविधान और विशेषता पर प्रकाश डालने के लिए ३ जातक कहानियाँ उद्धृत करत हैं। जातक संख्या ४६५ के अनुसार कोशल राज्य के राजा प्रसेनजित ने शाक्यों की कन्या से विवाह करने का प्रस्ताव किया। कोशल राज का प्रस्ताव सुन, हमें बताया गया है कि शाक्य आपस में विचार विमर्श करने हेतु एकत्र हुए।[1] जातक संख्या ५४७ द्वारा हमें पता चलता है कि

१. शाक्यों ने सोचा कि यदि वे इनकार करते हैं तो उन्हें वैमनस्यता और झगड़ा मोल लेना पड़ेगा और यदि हाँ करतें हैं तो वंश परम्परा टूटेगी। तब एक चतुर व्यक्ति महानामन ने दास कन्या को भेजा। प्रसेनजित द्वारा उस कन्या से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। इस बालक को बताया गया कि उसके ननिहाल के लोग 'शाक्य राजा' हैं, इसलिए अपने सम्बन्धियों से मिलने गया। 'संथागार' में सब लोग राजकुमार का स्वागत करने के लिए एकत्र हुए।

भगवान बुद्ध ने जब कपिलवस्तु में प्रवेश किया तो शाक्य राजा उनका स्वागत करने के लिए एकत्र हुए। जातक संख्या ५३६ के अनुसार शाक्यों और कोलिओं के श्रमिकों में सिंचाई के पानी के वितरण हेतु संघर्ष प्रारम्भ हुआ, उन श्रमिकों ने विषय की रिपोर्ट अपने-अपने अमच्चों के पास की, अमच्चों ने उसकी सूचना राजा को दी। इस पर शाक्यों और केलिओं में युद्ध प्रारम्भ हो गए। इन जातक कहानियों द्वारा निम्नलिखित संवैधानिक विशेषताएं प्रकट होती हैं :—

(१) शाक्य राजा सार्वजनिक विषयों, विदेशी राजदूतों एवं राजकुमारों के स्वागत के लिए सामूहिक रूप से सम्प्रभु अधिकारों को कार्यवाही में प्रयोग करते थे। (जातक संख्या ४६५)

(२) श्रोत्र कक्ष में महान धार्मिक आचाय का स्वागत करने के लिए शाक्य राजा और उनके परिवारों के कनिष्ठ सदस्य सामूहिक रूप से भाग लेते थे (जातक संख्या ५४७)

(३) तृतीय कहानी से मालूम होता है कि शाक्य राजा प्रशासकीय सूचनाओं को सामान्य अधिकारियों माध्यम से प्राप्त करते थे और पड़ोसियों के साथ युद्ध का निश्चय करते हुए बताए गए हैं। (जातक संख्या ५३६)

उपर्युक्त विवेचनाओं के आधार पर डाक्टर यू० एन० घोषाल ने अपने मत को प्रकट करते हुए कहा है कि निसन्देह शाक्यों का संविधान आनुवंशिक सरदारों की एक सम्प्रभु संस्था के साथ एक कुलीन तंत्रात्मक गणतन्त्र था।[1]

यूनानी लेखकों द्वारा उल्लिखित गणराज्य

यूनानी इतिहासकार, जो सिकन्दर के साथ भारत आक्रमण के समय आये थे। उन्होंने राजतन्त्र से भिन्न प्रकार के प्रजातन्त्र राज्य देखे। कुछ विद्वान इन प्रमाणों को संदिग्ध मानते हैं। उनके अनुसार यूनानी इतिहासकारों ने अनावश्यक रूप से भारतीय राज्य व्यवस्था को अपने देश-में प्रचलित व्यवस्था से समता दिखाने का प्रयत्न किया। परन्तु डाक्टर अल्तेकर ने इसका खंडन करते हुए कहा कि 'यूनानी इतिहास' लेखकों ने प्राचीन भारत में नृपतन्त्र और अनेक प्रकार के प्रजातन्त्र दोनों थे। वे स्वयं लोकतन्त्र के समर्थक थे और कोई कारण नहीं कि झूठ-झूठ अपने

---

१. घोषाल, यू० एन० डाक्टर, वही, पृ० ३६४. "The constitution of the Sakyas was beyond doubt an aristocratic with a sovereign assemly of the hereditary nobles.'

शत्रुओं में ऐसी राज्य व्यवस्था का अस्तित्व सिद्ध करना चाहे जिसे वे अपने गौरव का विषय मानते हों।[१]

डाक्टर काशी प्रसाद जायसवाल ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दू पालिटी में निम्नलिखित गणराज्यों को बताया।[२]

१. कथैअन

२. एरियन ने कुछ स्वतन्त्र भारतीय राष्ट्रों अथवा गणराज्यों को राव्री तट पर देखा पर उनका नाम नहीं बताया है।

३. अद्रेस्ताई इसका समीकरण गणपाठ और अष्टाध्यायी के अरिष्टों से किया जाता है।

४. सोफाइटेस महोदय एस० लेवी इसका समीकरण सौभुती से करते हैं, परन्तु जायसवाल महोदय स्वयं कहते हैं कि यह स्पष्ट नहीं है कि इसका शासक निर्वाचित होता था अथवा आनुवंशिक होता था, उनके अनुसार सम्भवतः यह गण तन्त्रात्मक राज्य था।

५. एरियन के अनुसार सिकन्दर जब हैफसिस अथवा व्यास नदी पर पहुँचा तो नदी के उस पार के बारे में सुना कि भूमि बड़ी उपजाऊ है और लोग अच्छे कृषक हैं, योद्धा हैं। अभाग्यवश यूनानी लेखक ने इसका नाम नहीं बताया है। चूँकि यौधेयों के सिक्के व्यास नदी के किनारे पाए गये हैं इसलिए जायसवाल महोदय इस राज्य को यौधेयों का राज्य मानते हैं।

६. आक्सीड्रकाई (क्षुद्रक)

७. मल्लोई (मालव)

८. सिबोई (सोबी)

९. अग सिनाई—जायसवाल इसका समीकरण अग्रश्रेणी से करते हैं।

१०. सम्बस्तइ

११. अबस्तनाई (अम्बष्ठ)

१२. जैथराई

१३. ओस्सदिआई

१४. मुसकनि

१५. ब्रचमनाई

१६. पटल

---

१. डाक्टर अल्तेकर—स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इण्डिया, पृ० ११०

२. जासवाल, हो, पृ० ५८—७२

संवैधानिक सर्वेक्षण—

जायसवाल महोदय उपर्युक्त वर्णित गण-राज्यों में निम्नलिखित संवैधानिक विशेषताएँ बतलाते हैं :—

१. प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली

२. राजा का निर्वाचन प्रेसीडेन्ट के रूप में

३. द्वितीय सदन (Second Chamber)

४. उच्चतन्त्रात्मक अथवा कुलीनतन्त्रात्मक प्रजातंत्र (Aristocratic democracy)

५. पार्लियामेंट

प्रजातन्त्र—अम्बष्ठों में प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली थी। इसमें द्वितीय सदन था, जिसका संगठन उच्चवर्ग के निर्वाचित लोगों द्वारा होता था। वे अपने सेनापति का भी चुनाव करते थे। स्पष्टतः समाज का प्रत्येक व्यक्ति मत देने का अधिकार रखता था।

क्षुद्रक और मालव गणों से राजा-राजपुरुष ('king' consul) नहीं था क्योंकि उन्होंने शान्ति की सन्धि स्थापित करने हेतु १०० या १५० प्रतिनिधि भेजे थे। इससे विदित होता है कि उनके संविधान में शक्ति एक व्यक्ति के हाथ में न होकर मनुष्यों की छोटी संस्था में थी। एक और महत्त्वपूर्ण बात है कि दोनों की सेनाएँ एक सामान्य सेनापति का निर्वाचन करती थीं।

निर्वाचित राजा प्रेसीडेण्ट के रूप में—कथैअनों अथवा कंठों के संविधान में निर्वाचित राजा होता था। डायडोरस के अनुसार राज्य में माता-पिता की उत्प-संतानें सर्वप्रथम तो नागरिक थी और इसके बाद में व्यक्ति। इसी समान, सोभूत का भी संविधान था। इन राज्यों में वास्तव में मनुष्य राजनैतिक जीव (political animal) था। व्यक्ति का अस्तित्व राज्य के लिये था। 'पटल' राज्य में 'राजा' राज पुरुष (king consul) का निर्वाचन होता था। इसकी समता कौटिल्य द्वारा वर्णित 'राज शब्दिन संघ' द्वारा की जा सकती है।

द्वितीय सदन—'पटल' के संविधान में वृद्धों की सभा शासन करती थी। ऐसा कहा जाता है कि वे दो राजा रखते थे। इसके उद्देश्य युद्ध में नेतृत्व करना था। यह अनुवांशिक राजन्य परिवार थे। पटल से राजा 'सभा' के प्रति उत्तरदायी थे। सभा सम्भवतः सम्पूर्ण समाज द्वारा निर्वाचित होती थी क्योंकि यह प्रजातन्त्रात्मक सभा थी। जायसवाल महोदय पटल में कुलीन तन्त्र और प्रजातन्त्र का समन्वय पाते हैं।

कार्यपालिका सम्बन्धी अधिकार कुछ गणराज्यों में द्वितीय सदन में निहित थे। परन्तु कुछ अन्य गणराज्यों में ये अधिकार 'गण' अथवा पार्लियामेंट के हाथ में थे। यूनानी लेखकों के अनुसार पटल की उच्चवर्ग की सभा में सर्वोच्च सत्ता निहित थी। अम्बष्टों के लोग अपने उच्च वर्गों की सलाह सुनते थे। जायसवाल जी के अनुसार वृद्धों की परिषद द्वितीय सदन के समान थी। व्यक्तिगत संविधान के अनुसार उनकी विभिन्न शक्तियाँ थी। पटलों में वे सरकार के प्रत्येक उद्देश्यों के लिए थे। परन्तु अम्बष्ठ संघ में ऐसे नहीं थे। महाभारत को उद्धृत करते हुए जायसवाल ने अपना मत प्रकट किया है कि कार्यपालिका सम्बन्धी शक्ति का संभवतः प्रतिनिधित्व नहीं होता था। यह सम्भवतः सामान्य नीति थी। अम्बष्टों, क्षुद्रकों और मालवों में ऐसा संविधान था।

कुलीनतंत्रात्मक प्रजातंत्र—कुछ परिवारों में आनुवंशिक सिद्धान्तों पर कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियाँ निहित थीं, यद्यपि ये शासकगण के आधीन थे यूनानियों ने ऐसे राज्यों की कुलीनतन्त्रात्मक अथवा उच्चतन्त्रात्मक कहा है। वास्तव में उनका मिश्रित संविधान था। जायसवाल जो इसे कुलीनतन्त्रात्मक प्रजातन्त्र (aristocratic democracy कहते हैं। उदाहरण के लिए व्यास नदी के उस पार ५,००० सदस्यों का गण अथवा पार्लियामेंट था तो भी यह कुलीन तन्त्रात्मक कहलाता था। यूनानियों की दृष्टि से आन्तरिक सरकार की उत्तम प्रथा थी। ५,००० सदस्यों का गण प्रत्यक्ष परिषद् नहीं था, क्योंकि इनमें वही राज्य भाग ले सकते थे जो कि एक हाथी भेंट करते थे। गण में स्थान लेने हेतु यही योग्यता थी। आनुवंशिक राजाओं पर वृद्धों के सदन का नियंत्रण रहता था। जायसवाल जी का मत है कि रूप में तो कुलीनतंत्रात्मक है परन्तु इसकी आत्मा प्रजातन्त्र है।

पार्लियामेंट—यूनानियों द्वारा देखी गई ५,००० सदस्यों भी पार्लियामेंट भारतीय साहित्य के लिए कोई अनोखी नहीं है। लिच्छवियों के गण अथवा पार्लियामेंट में ७,७०७ राजुक (सदस्य) थे।[1]

प्राचीन भारतीय गणराज्यों की कार्यवाही का व्योरा—

उपलब्ध बौद्ध सूत्र और अन्य साहित्यिक सामग्री इस बात के द्योतक हैं कि राज्य विषयक मामलों पर वाद विवाद और निश्चय गणतन्त्रों की केन्द्रीय समिति में होता था। समिति की कार्यवाही सम्बन्धी नियम अवश्य बने होंगें। पर किसी राज्य शास्त्र के लेखक ने उनका वर्णन नहीं किया है। यदि हम मान लें कि 'बौद्ध संघ' की नियमावली समकालीन 'गण' या 'संघ' राज्यों के आधार पर बनाए गये होंगे तो हम

१. जायसवाल, वही, पृष्ट ७३-७८

इस सिलसिले में कुछ जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। हिन्दू गणतन्त्रों की कार्यवाही पर प्रत्यक्ष प्रमाण बौद्ध धर्म के 'मूल सर्वास्तिवाद' शाखा के ग्रन्थों के नियम भाग की दो कहानियों में मिलता है। जब कोशल के राजा ने कपिलवस्तु को अपने आधीन किया तो उसने अपने दूत को भेजा कि शाक्य आत्मसमर्पण कर दें। तब शाक्यों ने कहा कि हम सबको एकत्र होकर इस पर विचार-विमर्श करने दो कि हम मुख्य द्वार खोलें अथवा नहीं। जब वे सब एकत्रित हुए तो कुछ लोगों ने कहा कि मतैक्य नहीं है अतः हमें बहुमत की राय जाननी होगी। अतः उनमें इस विषय पर मतदान हुआ। चीवार वस्तु के अनुसार जब लिच्छवियों का वृद्ध सेनापति मरा तो वैशाली में गण अथवा सभा का अधिवेशन हुआ। इसका उद्देश्य था मृत सेनापति के उत्तराधिकारी का चुनाव करना। कुछ लोगों का प्रस्ताव हुआ कि 'खंड' सेनापति के पुत्र को उत्तराधिकारी होना चाहिए परन्तु अन्य लोगों ने सिंह के पक्ष में मत व्यक्त किया। अन्तिम प्रस्ताव सब सदस्यों को स्वीकार हो गया अतः गण ने सिंह को सेनापति चुना उपर्युक्त कहानियों से प्रारम्भिक भारतीयगण सभाओं की परम्परागत कार्यवाही की दो विशेषताएं दृष्टिगोचर होती हैं :—

(१) सभाओं में राज्य के महत्वपूर्ण विषयों पर विचार विमर्श अथवा वाद विवाद होता था। इसमें सदस्यों को अभिव्यक्तिकरण की पूर्ण स्वतन्त्रता थी।

(२) विषयों की समस्याओं को लोगों के मतैक्य से निर्धारित किया जाता था, मतैक्य न होने पर बहुमत के द्वारा निश्चय लिया जाता।

दो जातक कहानियों के आधार पर डॉ० जायसवाल का मत है कि शाक्य मुनि के जन्म के पहले राजनैतिक मामलों में मतदान होता था। प्रथम कहानी में बताया गया है कि मंत्रियों और नागरों ने एक मत होकर (एक छन्दा) रिक्त सिंहासन की पूर्ति हेतु राजा का निर्वाचन किया। जायसवाल जी ने अनुमान लगाया है कि नवीन राजा के चुनाव में यह सम्पूर्ण नगर के पुनरवलोकन (referendum of the whole city) की ओर संकेत करता है, दूसरी कहानी के आधार पर जायसवाल जी का कहना है कि बुद्ध जी के समय के पहले राजनैतिक विषयों पर प्रस्ताव के प्रस्तावित करने की कार्यवाही तीन बार होती थी। परन्तु डॉ० यू० एन० घोषाल उपर्युक्त मतों से सहमत नहीं हैं क्योंकि—

(१) जहाँ तक जातक कहानियों का प्रश्न है, उनकी अतिप्राचीनता के बारे में आधुनिक शोध कार्यों ने संदेह प्रकट कर दिया है। उनके अनुसार प्राग बौद्ध समय से लेकर प्रथम शताब्दी तक वे विभिन्न समयान्तरों से सम्बन्धित हैं।

(२) छंद का अर्थ अभिप्राय, आशय प्रस्ताव है।

(३) दूसरी कहानी में वर्णित नृपतन्त्र के उद्भव की सदृश्यता मनुष्यों, चौपायों और मछलियों में देखना, जायसवाल के 'राजा' के अर्थ को गणतन्त्र के राजा से नहीं लेना चाहिए।

विनय साहित्य में हमें 'बौद्ध संघ' की कार्यवाई और तकनीकी शब्दों के बार में ज्ञात होता है। 'संघकम्म' की वैधानिकता के हेतु हमें बताया गया है कि संघ सभा की पूर्ति के लिए कार्य के स्वरूप के अनुसार ४, ५, १० अथवा २० या अधिक सदस्यों का रहना आवश्यक था स्पष्ट रूप से इसका अर्थ 'कोरम' अथवा 'गणपूर्ति' नियमों से है। विनय पिटक के महावग्ग में गणपूरक का उल्लेख है, उसका कार्य था कि भिक्षुओं की सभा में 'कोरम' का पूरा करना। चुल्लवग्ग के अनुसार वैशाली की परिषद के अधिवेशन में वृद्धों (सदस्यों) के बैठने के स्थान निर्धारण करने के लिए एक भिक्षु की नियुक्ति की गई। इसे 'आसनपञ्वापक' कहतें थे। 'संघ कम्म' की कार्यवाई में दो स्वरूप दिखाई देते हैं—(१) प्रस्ताव (भक्ति), (२) प्रस्तावित कार्य (कम्मवाचा) पर वाद विवाद (अनुस्सावन)। 'यह कार्य होने दो' (Let this act be done) के रूप में प्रस्तावना होती थी तो सब कार्यवाई अवैध हो जाती थी। बौद्ध-संघ में यह प्रथा थी कि जो लोग प्रस्ताव के पक्ष में रहते थे वे मौन रहते थे केवल विरोधी ही असहमति प्रकट करते थे। डॉ० अल्तेकर का मत है कि गणतंत्र की समितियों में तो जोरों का विवाद बराबर होता रहा होगा। आज कल की भाँति बौद्ध संघ में प्रस्ताव तीन बार उपस्थित और स्वीकृत किया जाता था, डॉ० अल्तेकर ने अनुमान लगाया है कि गणतंत्रों की समितियों में शायद यह परिपाटी न बरती जाती थी।' जब मतभेद दिखाई देता था तब मत लिये जाते थे और बहुमत का निश्चय मान्य होता था। अनुपस्थिति स्वीकृति समझी जाती थी। यदि प्रस्ताव एक बार उपस्थित किया जाता तो इसे 'अतिदुतिय कम्म' और यदि तीन बार उपस्थित और स्वीकृत किया जाता तो इसे 'अत्ति चतुत्थ कम्म' कहा जाता था। (महावग्ग, ix. ३.६)।

मतदान :—मत को छन्द कहते थे। मतदान का अर्थ है कि सदस्य अपनी स्वतंत्र इच्छा प्रकट कर रहा है।

अनुपस्थित लोगों के मत—सदस्य जो अधिवेशन में आने के अधिकारी थे, बीमारी अथवा अन्य कारणवश आने में असमर्थ थे तो उनके मतों को बड़ी सतर्कता के साथ एकत्रित किया जाता था। इस कार्य की एक चूक सारी कार्यवाही का बिगाड़ देती थी। यदि एकत्रित सदस्य इस पर विरोध करते तो ऐसे मतों को रद्द समझा जाता था।

यदि संघ प्रस्ताव को एक मत से तय कर लेता, तो मतदान नहीं होता था। परन्तु मतभेद होने पर बहुमत द्वारा निश्चय होता था। पालि में इस कार्यवाही को 'ये भुय्यसिकम्' कहते हैं। मतदान कभी कभी अप्रकट रूप से किया जाता था तब उसे 'गूढ़क' मतदान कहते थे। कभी-कभी सदस्य मतसंग्रह करने वाले के कान में अपना मत कहते थे, तब उसे 'सकर्ण जपकं' मतदान करते थे। चुल्लवग्ग के अनुसार जब प्रकट रूप से मतदान होता था, तब उसे 'वितरक' मतदान कहते थे। मतदान पत्र (voting tickets) रंगीन होते थे। इन्हे शलाका कहते थे। मतदान को 'शलाका ग्रहण' कहते थे। प्रत्येक सदस्य को अनेक रंगों की शलाकाएँ दी जाती थीं व पूर्व संकेत के अनुसार विशिष्ट रंग की शलाका विशिष्ट प्रकार के मत के लिये 'शलाका ग्रहक' के पास दी जाती थी।

निरर्थक भाषणों से बचने के लिये, कार्यवाई का अधिकार नियुक्त समिति को था जो कि प्रश्न को अपने मध्य हल कर निर्णय को संघ को बता देती थी। यदि समिति किसी निश्चय पर न पहुँच पाती तो समस्या का जिम्मा संघ के हाथों में रहता था, जो कि बहुमत की राय से इसे हल करता था। इस प्रकार की कार्यवाई को 'सम्मुख विनय' कहते थे। चुल्लवग्ग के अनुसार एक बार निश्चय हो जाने पर फिर पुनर्विचार नहीं होता था। इसका पुनर्विचार अपराध समझा जाता था। इसे 'पचित्तिय' कहते थे।

डॉ० अल्तेकर का मत है कि समिति की कार्यवाई का ब्योरा रखने के लिए लेखक भी अवश्य रहते होंगे।

निष्कर्ष रूप से हम कह सकते हैं कि भगवान बुद्ध ने अपने संघटन में कार्यवाइ के नियमों को गणतन्त्रों से अपनाया था। डॉ० जायसवाल जी का कहना है कि वह स्वयं एक गणराज्य में से आ रहे थे और अधिकतर गणतांत्रिक सभाओं में रहते थे, वह पूर्णरूप से उनकी कार्यप्रणाली से परिचित थे और अपने संघ के लाभ हेतु उसे अपनाया था। डॉ० भण्डारकर के अनुसार विभिन्न शब्दावली और वाद विवाद के नियम जिनको बुद्ध ने अपने धार्मिक संघ में अपनाया, वे लोक समितियों के लिए ही उचित थे और उनका प्रयोग संघों द्वारा पहले से ही हो रहा था चाहे वे राजनैतिक, नगरपालिका अथवा व्यवसायिक हों।[1]

प्राचीन भारतीय गणराज्यों का ह्रास—

डॉ० जायसवाल के अनुसार ४०० ई० के बाद गणराज्यों का पतन गुप्त वंश

१. देखिये जायसवाल, वही, पृष्ठ ८६-१०१, डॉ० अल्तेकर, स्टेट एण्ड गवर्नमेंट इन एन्शियन्ट इण्डिया, पृष्ठ १३०-३२; भंडारकर, लेक्चरर्स आन एन्शियन्ट हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृष्ठ १८०, १८४, डॉ० घोषाल, वही, पृष्ठ ३७१-८०।

की साम्राज्यवादिता के कारण हुआ। सिकन्दर के समान समुद्रगुप्त ने देश की स्वतंत्र आत्मा का हनन किया। उसने स्वतन्त्रता प्रेमी मामलों और यौधेयों का विनाश किया।

डॉ० अल्तेकर इस मत से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार मालव, अर्जुनायन, यौधेय और माद्र गणराज्यों ने समुद्रगुप्त को सामान्य रूप से सम्राट स्वीकार किया था, उन्होंने कर दिया परन्तु आन्तरिक स्वतन्त्रता बनाये रखे। गुप्तों ने प्रत्यक्ष रूप से कभी भी उनके राज्यों पर शासन नहीं किया था और इसलिये उनके अस्तित्व पर कभी भी प्रहार नहीं हुआ। मौर्यों और कुषाणों के उद्भव से उनकी प्रतिभा दब गई थी, परन्तु इन साम्राज्यों के पतन के तुरन्त बाद ये गणराज्य पुनः राजनैतिक क्षितिज पर उभर आये।

नंदसा अभिलेख से प्रकट होता है कि तृतीय शताब्दी में मालवों का नेतृत्व आनुवंशिक परिवारों के हाथों में चला गया और वे अपने को इक्षवाकु वंश का बताने लगे। चौथी शती ई० में यौधेय और सनकानिक नेता 'महाराजा' और महासेनापति जैसी उपाधियाँ ग्रहण करने लगे। लिच्छवि गणराज्य में अध्यक्षता आनुवंशिकता में सम्भवतः बदल गई होगी, क्योंकि कुमार देवी इस राज्य की उत्तराधिकारिणी थी। इस प्रकार से निर्वाचित अध्यक्ष के स्थान पर राज्य का नेता आनुवंशिक होने लगा था। ऐसा क्यों हुआ? इसका उत्तर अभी भी हल नहीं हो सका। प्रजातांत्रिक तत्व नृपतन्त्रात्मक तत्वों में परिवर्तित होने लगे। डा० अल्तेकर ने एक और सुझाव दिया कि देवत्व के सिद्धान्तों ने भी गणतन्त्रों को प्रभावित किया और इसी कारण से इनके नेता आनुवंशिक होकर महाराज जैसी बड़ी-बड़ी उपाधियाँ ग्रहण करने लगे। इसके अतिरिक्त गणतन्त्रों की सामुदायिक नेतागिरी की अपेक्षा एकात्मक नेतागिरी उन्हें बाह्य आक्रमणों से बचा सकती थी।

इसके अतिरिक्त इसे गणराज्यों की स्वयं की आपसी संघर्ष ने इन्हें विनाश की ओर ढकेला।

—०—

अध्याय : ८

कर व्यवस्था

समृद्ध और स्थायी राज्य के लिए आर्थिक स्थिति की दृढ़ता अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है। राज्य के सप्तांगों में कोश का महत्वपूर्ण स्थान है, हिन्दू राजनीतिक चिंतकों ने इसकी महत्ता को स्वीकार किया है। महाभारत में राजा को सलाह दी गई है कि वह कोश की रक्षा बड़ी सावधानी पूर्वक करे, क्योंकि यह राज्य का मूल है।[1] कौटिल्य[2] मनु[3] और याज्ञवल्क्य[4] आदि भी यही विचार प्रकट करते हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि वह राज्य कभी भी सुरक्षित नहीं रह सकता जिसका कोश अल्प होगा। शुक्र के अनुसार सैन्यशक्ति का मूल कोश है, और कोश की जड़ सेवा है। अतः राजा को व्यक्तिगत रूप में आय-व्यय का हिसाब देखना चाहिए।[5] राजतरंगिणी द्वारा पता चलता है कि कश्मीर का राजा 'कलश' आय और व्यय का निरीक्षण करता था और अपने साथ एक लिपिक रखता था जो उसके द्वारा दिए गए निर्देशों को लिखता था।[6]

राज्य कोश के विभिन्न साधनों में कर प्रणाली का महत्वपूर्ण स्थान था। डॉ० अल्तेकर का मत है कि प्रारम्भिक काल में राजा की स्थिति अधिक सुदृढ़ नहीं थी, कर व्यवस्था सामयिक और अपनी इच्छानुसार होती थी।[7] ऋग्वेद में राजा को दी जाने वाली 'बलि' का उल्लेख मिलता है। इसका प्रयोग देवताओं को यज्ञों में

---

१. कोशमूल: हि राजान: कोशो वृद्धिकरो भवेत। (महाभारत, xii ११९, १६)
२. कोशमूल: कोशपूर्वा सर्वारम्भा: तस्मात्पूर्वं कोशमवेक्षेत (अर्थशास्त्र, ii, २)
३. मनु, vii' ६५
४. याज्ञ० i, ३२७-३२८
५. शुक्र, iv, २,१४
६. राजतरंगिणी, vii, ५०७-८
७. 'In the earliest period, the king's power was not well established and taxation seems to have been occasional and valuntary....
—अल्तेकर, अ० स०, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इण्डिया—पृ० २६२

दी जाने वाली भेंट रूप में हुआ है, इसके अतिरिक्त शत्रु से अपने जन की रक्षा, शत्रु के गढ़ों को तोड़ने आदि कार्यों के उपलक्ष में राजा को दिए जाने वाले धन के लिए भी किया गया है।[1] डा० अल्तेकर का कथन है कि पूर्व वैदिक युग में व्यष्टि सामान्य जिम्मेदारी समझकर देने के अभ्यस्त नहीं हुए थे।[2] उत्तर वैदिक काल में अभिषेक संस्कार में राजा को विशामत्ता (प्रजा का भक्षण करने वाला) कहा गया है।[3] इसका तात्पर्य यह हुआ कि कर राज्य आय का मुख्य साधन बन गया था। इस युग में 'भागदुक', 'समाहर्ता' और 'अक्षावाप' आदि अधिकारी कर वसूलने वाले बताए गए हैं। जातकों में वैधानिक और अवैधानिक करों का वर्णन मिलता है।[4] मौर्य युग में और उसके बाद के युग में हमें कर व्यवस्था के बारे में अधिक प्रमाण प्राप्त होते हैं। अर्थशास्त्र, धर्मसूत्र और स्मृति साहित्य में इस विषय पर विशद सामग्री प्राप्त होती है।

राज कर सिद्धान्त—

अब हम प्राचीन भारत के राजकर सम्बन्धी सिद्धान्तों की विवेचना करेंगे। हम स्मृति और महाकाव्य साहित्यों में निर्दोष राज कर व्यवस्था को पाते हैं। कर वसूल यानी धर्मशास्त्रों द्वारा निर्देशित सिद्धान्तों को ध्यान में रखा जाता था। धर्मशास्त्रकारों ने राज–कर सम्बन्धी जो सिद्धांत या नियम निश्चित किए हैं, वे उन उद्देश्यों से बिल्कुल मिलते हैं, जिन उद्देश्यों से हिन्दू राज्य की सृष्टि हुई थी, और वे उद्देश्य इस प्रकार हैं—पोषण, कृषि सम्पन्नता और क्षेम या कल्याण।[5] राजकर का निर्धारण धर्मशास्त्रों के अनुसार होता था और यह भी निश्चित था कि कौन-कौन

---

१. ऋग्वेद, ३–४, ३–५, ३–३४·१, १०/१७३/६
"People were not yet quite accustomed to pay regular taxes to state as a matter of normal liability'—स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एशियन्ट इण्डिया, पृ० २६२

३. एति, ब्राह्म, vii/२६

४. जातक iv, पृ० ३६९|v पृ० ९८-९, १०१ ii, p. १७. हमें जातकों द्वारा ज्ञात होता है कि अच्छे राजा केवल वैधानिक कर लगाते थे, जबकि दुष्ट प्रकृति के राजा अवैधानिक करों को प्रजा से वसूलते थे। प्रजा बलि साधकों अथवा बलि परिगाहकों अधिकारियों (कर वसूल करने वाले अधिकारी) से डर कर जंगलों मे भाग कर छिप जाते थे,

5. The cannons of taxation settled by constitutional writers agree with the telos for which the Hindu state was created, namely, 'for prosperity land-culture, wealth and wellbeing.'—जायसवाल का० प्र०, हिन्दू पालिटी, पृ० ३३५

सा कर किस हिसाब से लिया जाना चाहिए।[1] अतः शासन प्रणाली का स्वरूप चाहे जो हो राज कर के विषय में शासक का मन चंचल नहीं होता था, इसी कारण शासक और शासित वर्ग में संघर्ष अथवा मनमुटाव का प्रश्न नहीं उत्पन्न होता था। मनु के अनुसार राजा यदि प्रजा की रक्षा न करता हुआ, प्रजा से करों के द्वारा धन-संचय करता है तो ऐसा राजा नरकगामी होता है और प्रजा के सम्पूर्ण पापों के भार का वहन करने वाला बन जाता है।[2] महाभारत के अनुसार, जो लोभी राजा ऐसे कर एकत्र करने के लिए जो शास्त्रों से अनुमोदित नहीं है, मूर्खतापूर्वक अपनी प्रजा पर अत्याचार करता है, वह स्वयं अपने ही साथ अन्याय करता है।[3] अभिलेखीय प्रमाणों द्वारा ज्ञात होता है कि राज-कर सम्बन्धी नियमों का पालन भारतीय राजाओं द्वारा होता था।[4] हम जानते हैं कि प्राचीन भारतीय इतिहास में नन्द राजा अवैधानिक करों को ग्रहण करने के कारण प्रजा द्वारा घृणा के पात्र बन गए थे।[5] "The Nandas are accused to have taxed hides or furs. Evidently these articles had not been taxed before, There was a vast trade in skins or furs between the Magadh Empire and Himalayan countries as the Arthasastra (xi 2) proves.

राजा की मुख्य आय कृषि उपज का निश्चित 'भाग' अथवा 'अंश' था। बाजार विक्रय के लिए आये हुए सामान में उसका अंश १/१० अथवा परिस्थितियों के अनुसार होता था।[6] इसके अतिरिक्त आयात और निर्यात पर शुल्क लिया जाता था। इनकी दर आदि निश्चित करने में राजा को थोड़ी बहुत स्वतंत्रता अवश्य थी।[7]

---

१. जायसवाल, वही, पृ० ३३२
२. मानव धर्मशास्त्र, २५४/९, ३०७, ३०८/८
३. शान्तिपर्व ७१/१५
४. सातवाहन वंश की महारानी बल श्री के शिलालेख द्वारा ज्ञात होता है कि उसका पुत्र पवित्र धर्म व्यवस्थानुसार राज कर वसूल करता था। देखिए आर्कियालोजिकल सर्वे रिपोर्ट ऑफ वेस्टर्न इण्डिया, खंड ४, पृ० १०८, एपिग्राफिया इंडिका खंड ८, पृ० ६०
५. जायसवाल का० प्र०, हिन्दू पालिटी, पृ० ३३६
६. बोधायन, i, १०, १८, २, आपस्तंब ii. १०, २६,९ वशिष्ठ xix, २६-२७, गौतम, x २४-२७, मनु vii, १३०-३२
७, In the regulation of these the king had some what free hand— जायसवाल का० प्र०, उपर्युक्त, पृ० ३६६

हिन्दू राजकर के सामान्य सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :—

(१) राज कर पक्षपात रहित और न्याय संगत होना चाहिये। राजा को यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि निर्दयतापूर्वक लगाये गये कर की अपेक्षा और दूसरी घृणा की कोई वस्तु नहीं हो सकती है।[१] मनु सलाह देते हैं कि राजा को लालचवश होकर प्रजा की जड़ को नहीं काटना चाहिए। अधिक कर प्रजा और राजा दोनों के प्राण को क्षीण कर देता है।[२] 'यदि बछड़े को अधिक दूध पीने दिया जाय; तो वह बलवान होकर अधिक (भारी भार) वहन करने और कष्ट सहने के योग्य होता है। राजा को उक्त सिद्धान्त का ध्यान रख कर प्रजा-रूपी दूध दुहना चाहिए।' जिस प्रकार माली फूलों और फलों को तो तोड़ता है, परन्तु वृक्षों को हानि नहीं पहुँचाता है, मधुमक्खी शहद को तो चूसती है पर पुष्प को क्षति नहीं पहुँचाती है।[४] उसी प्रकार राजा को कर ग्रहण करना चाहिये, परन्तु प्रजा को कोई कष्ट नहीं पहुँचना चाहिए।[५]

...it is only by moderate and timely collection of taxes that people will become attached and Royal to the king thus ensuring a continuous payment of txation.'

(२) प्रजा पर कर का बोझ साधारण होना चाहिये। बड़ी-बड़ी योजनायें उसी राज्य की सफल हो सकती हैं जब कि वहाँ का राजा कर को अधिक भारी नहीं बनाता है और राज्य की सुरक्षा को ध्यान देता हुआ अल्पव्ययता से शासन की बागडोर सम्भालता है।[६]

राजकर संग्रह करते समय के सिद्धान्त—

(३) मनु के अनुसार राजकर के न्यायोचित अवधारण इस पर निर्भर करती थी कि राज्य एव कृषक अथवा व्यवसायिक वर्ग दोनो दल इस बात को सोचें कि वे दोनों अपने परिश्रमों के बदले में उचित फल पा चुके हैं।[७]

---

१. महाभारत xii, ८७|१९ प्रतिषंति परिख्यातं राजानमति खादिनम्।

२. मानवधर्मशास्त्र, १११|७

३. महाभारत ८७|२०-२१

४. पंचतंत्र I|२४३

५. पी० वी० उद्गओंकर, दि पॉलिटिकल इन्स्टीट्यूशन एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन, पृ० १७२

६. मनु, ७|१२७, विक्रयं क्रयध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम्।
योग क्षेमं च संप्रक्ष्य वणिजो दापयेत्करान्॥
और देखिये शुक्र ४/२|१९

(४) कर उचित स्थान, उचित काल और उचित रूपमें लगाये जाने चाहिए।[१] कर वसूलने के तरीके कष्टदायक नहीं होने चाहिये। गाय को दुहो परन्तु उसके स्तनों को मत नोचो।[२]

(५) किसी वस्तु पर एक ही बार शुल्क वसूल किया जा सकता था, दुबारा नहीं।[३]

(६) मनु ने लाभ पर कर लगाने का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। इसके अनुसार किसी व्यवसाय अथवा आय के अन्य कार्यों में जो पूँजी लगायी जाती है उस पर कर नही लगता। इस पूँजी के लगने से जो लाभ होता है उसमें से व्यय आदि को निकाल कर जो शुद्ध बचत होती है उस पर कर लगाना विधि-विहित माना गया है।[४]

(७) शिल्प आदि पर कर निर्धारित करते समय निम्नलिखित सिद्धान्त ध्यान में रखे जाते थे।

(अ) सदैव इस बात को ध्यान में रखना चाहिये कि कितना परिश्रम लगा और कितना उत्पादन हुआ; इन बातों को सोचे बिना कर नहीं लगाना चाहिये।[५] 'शिल्प की वस्तुओं पर कर लगाते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि कितना लाभ होने पर कारीगर कोई चीज तैयार करने में लगा रहेगा, जिसमें राजा का भी लाभ होता रहेगा।'[६]

"What profit (result of production) would keep the producer to the production and produce denefit to the king as well" should be the ruling consideration in deciding upon the amount of taxes to be levied on industries.

---

१. महाभारत १२/३८/१२, देखिये कामन्दक ४,८३-८४

२. महाभारत १२/८८/४

३. वस्तुजातस्यकवारं शुल्कं ग्राह्य प्रयत्नतः। शुक्र ४/२/१११

४. पाण्डेय, श्यामलाल डॉ०, भारतीय राज्य शास्त्र प्रणेता, पृ० ४५/५ डॉ० अल्तेकर के शब्दों में 'In the case of trade and industry, the taxation was to be on net profits and not on gross earnings' कहा जा सकता है। देखिये, पृ० २१६, 'State and Government in Ancient India.'

५. महाभारत १२।८७।१६

६. जायसवाल का० प्र०, हिन्दू पालिटी; पृ० ३३८.

(७) यह भी ध्यान में रहे कि शिल्पी की हालत कैसी है; कितनी लागत लगी, कितना सामान खर्च हुआ वस्तु के निर्माण में उनके निर्वाह के लिए कितने धन की आवश्यकता पड़ी।[१]

आयात पर कर लगाने के सिद्धान्त—

(८) सौदागर अथवा व्यापारी का क्रय में कितना धन लगा, विक्रय कितने का हुआ, वस्तु कितनी दूर से आई है, उसके आने में कितना व्यय पड़ा है, इसके अतिरिक्त व्यापारी को कितनी कठिनाई उठानी पड़ी। इन बातों को ध्यान में रखना चाहिये।[२]

(९) यदि आयात राज्य के लिये हानिकारक हैं और आयात की गई वस्तु निरर्थक अथवा शौक के लिये है तो उन पर अधिक कर लगा कर आयात कम किया जाए।[३]

(१०) आयात की वस्तुओं से राज्य को यदि अधिक लाभ होता हो तो उन्हें निःशुल्क कर देना चाहिये।[४]

(११) वस्तुएं जो देश में कम मिलती हों और वे भविष्य में उत्पत्ति के लिए बीज का काम दें तो उनका बिना शुल्क लिये आयात करना चाहिये।[५]

(१२) अर्थशास्त्र में निम्नलिखित वस्तुओं के आयात पर शुल्क लेना नहीं बताया गया है।[६]

(१) अस्त्र-शस्त्र।

(२) धातु।

(३) सेना के काम में आने वाले रथ आदि।

(४) अप्राप्य या दुष्प्राप्य पदार्थ।

(५) अनाज।

(६) पशु आदि।

---

१. महाभरत १२।८७।१४

२ महाभारत १२।८७।१३; देखिये मनु ७।१२७

३. अर्थशास्त्र II।२१, राष्ट्र पीडाकरं भाण्डायुच्छिन्द्यादफलं च यत्।
मसोपकारमुच्छुल्कं कुर्या द्वीजंतु दुर्लभम्॥

४. जायसवाल, का० प्र०, हिन्दू पालिटी: पृ० ३३९

५. जायसवाल, का० प्र०, वही पृ० ३३९

६. अर्थशास्त्र, II।२१; ३९—
शस्त्र-धर्म-कवच-लोहरथ रत्न-धान्य-पशूनामन्य तममनिर्वाह्यम्

(१३) विदेशी सुरा और घर में तैयार किए गए अरिष्ट आदि पेयों पर अधिक कर लगाया जाता था जिससे राज्य में बनने वाली ऐसी चीजों की कम बिक्री का हरजाना निकल आता था ।[1]

(१४) यदि राज्य कर में वृद्धि करना अनिवार्य हो गया हो तो यह कार्य धीरे-धीरे सम्पन्न होना चाहिए न कि अचानक ।[2]

(१५) कम महत्व के पदार्थों पर कर नहीं लगना चाहिए ।[3]

(१६) केवल आपद् काल में ही अतिरिक्त (extra taxes) लगाये जा सकते थे। दण्ड भूमिकर और शुल्क को बढ़ाकर राजा को कोष वृद्धि नहीं करनी चाहिए। तीर्थ एवं देवकर आपद्काल को छोड़कर और कभी भी ग्रहण नहीं करना चाहिये ।[4] सामान्य समय में राजा भूमि कर को नही बढ़ा सकता था और न वह मन्दिरों अथवा पवित्र स्थानों की सम्पत्ति ही हड़प सकता था ।

कर मुक्ति सिद्धान्त—

(१७) शुक्र के अनुसार जो लोग नवीन उद्योग करें अथवा परती जमीन को कृषि योग्य बनावे, या नई नहरों का निर्माण करें अथवा कूप, तालाब आदि सिंचाई की वृद्धि हेतु खुदवायें; उन पर कर जब तक न लगाया जाय जब तक कि वे अपनी लागत का दुगना मुनाफा या लाभ न उठा लें ।[5] अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने कर मुक्ति की विभिन्न अवधि बताई है—

(अ) नए निर्माण कार्यों के लिये ५ वर्ष की कर मुक्ति ।

(ब) पुनर्निर्माण कार्यों में ४ वर्ष की कर माफी ।

(स) सिंचाई आदि की वृद्धि के लिये ३ साल की शुल्क छूट ।

---

१. अर्थशास्त्र II।२५

२. महाभारत १२।८८।७-८

३. न मूल्यं गुणहीनस्य व्यवहारक्षमस्य च ।
शुक्र ४।२. १०७

४. शुक्र ४।२।१०' देखिए सोमदेव, नीति वाक्यामृत, ८२, सोमदेव मन्दिरों, ब्राह्मणों एवं यज्ञों के लिये संचित धनराशि पर शुल्क लगाने की अनुमति देते हैं ।

५. शुक्र ४।२, १२७

(ढ) परती भूमि को यदि क्रय किया गया है तो उस पर २ वर्ष तक कर नहीं लिया जाना चाहिये।[१]

(१८) सैनिक ग्राम कर मुक्ति किये जाते थे जो सैन्य संगठन के लिये व्यक्ति वृद्धि करते थे।[२]

गूंगे, बहरे एवं अंधे लोग अपनी अयोग्यता के आधार पर कर-मुक्ति किये जाते थे। गुरुकुल में पढ़ने वाले छात्र जो कि समाज में किसी प्रकार की आय नहीं कर रहे थे वे भी कर नहीं देते थे। प्रारम्भिक समय में स्त्रियाँ जिसके पास नगण्य सम्पत्ति थी वे भी कर मुक्त की जाती थीं।[३] परवर्ती युग में जब उनके उत्तराधिकार सम्बन्धी अधिकार समाज ने मान लिये तो केवल विधवायें अथवा अनाथ स्त्रियाँ ही राज्य द्वारा कर मुक्ति होती थीं।[४]

(१९) श्रोत्रिय ब्राह्मणों को मनु ने कर मुक्त घोषित किया है।[५] विष्णु स्मृति ने समस्त ब्राह्मण वर्ग को कर मुक्ति करने की संस्तुति दी है।[६] शुक्र[७] और सोमदेव[८] ने निस्संदेह यह कहा है कि आपद्काल में ब्राह्मणों और मन्दिरों से राजा कर वसूल कर सकता है। इससे यह प्रकट होता है कि सामान्य काल में इन पर कर नहीं लगाया जाता था। अधिकांश स्मृतियाँ ब्राह्मण को कर मुक्त बतलाती हैं।

महाभारत के अनुसार जो ब्राह्मण सरकारी-पद पर अधिक वेतन पा रहे हों अथवा ऐसे ब्राह्मण जो व्यवसाय, कृषि और पशुपालन द्वारा धन प्राप्त करें उन पर पूर्ण दरों से कर वसूल किया जाना चाहिए।[९] डाक्टर अल्तेकर का मत है जब ब्राह्मण लेखक स्वयं में इस विषय पर एक मत नहीं हैं, अतः यह स्वाभाविक है कि समस्त राज्य

---

१. अर्थशास्त्र vi।९
२. 'Military villages were exempted from taxation in consideration of the regular supply of recruits, which they ensured for the army'—डा० अल्तेकर, 'State and Government in Ancient India', पृ० २६७
३. डा० अल्तेकर, वही, पृ० २६७
४. डा० अल्तेकर, वही, २६७
५. मनु, ७।१३३
६. विष्णु, ३।२५-२६. ब्राह्मणेभ्यः करादानं न कुर्यात् । तेहि राज्ञो धर्मकराः ।
७. शुक्र, ४।२।२।९
८. नीतिवाक्या मृत, २१।१४
९. महाभारत १२, ७६, ४-७

इसका पालन नहीं कर रहे थे।[1] मध्य युगीन भारत के कुछ अभिलेखों से ज्ञात होता है—कभी-कभी सम्पूर्ण ब्राह्मण वर्ग कर मुक्त कर दिया जाता था। परमार वंश के राजा सोमसिंहदेव[2] विजयनगर के अच्युतराय राजा के अभिलेख[3] और गुन्तुर जिले से दो अभिलेख[4] इस तथ्य को प्रदर्शित करते हैं। परन्तु उपलब्ध साक्ष्यों द्वारा ज्ञात होता है कि इस प्रकार की कर की छूट सामान्य नियम नहीं था परन्तु ये अपवाद स्वरूप थे, ये अभिलेख राजा की प्रतिष्ठा बढ़ाने के हेतु दिखाई पड़ते हैं। समकालीन दक्षिणी भारत के अभिलेखों द्वारा ज्ञात होता है कि जब भूमि अथवा ग्राम ब्राह्मणों अथवा मन्दिरों को दान में दी जाती थी तो उनसे निर्मुक्त लगान (quit rent) लिया जाता था जब ब्राह्मण स्वामी सरकारी लगान अथवा कर नहीं देते थे तो उनकी जमीनें विक्रय कर दी जाती थी। राज्य तीन महीने तक प्रतीक्षा करता था, इस अवधि के अन्त में भी यदि अदायगी ब्राह्मण द्वारा न हुई हो तो उसके हिस्से को नीलाम कर दिया जाता था।[5] अधिक से अधिक दो वर्ष तक प्रतीक्षा की अवधि बढ़ाई जा सकती थी परन्तु फिर भी अदायगी न की जाए तो ब्राह्मण की भूमि को निश्चय ही विक्रय कर दिया जाता था।[6] डाक्टर अल्तेकर का मत उचित दिखाई देता है कि सामान्यतः समस्त ब्राह्मण को कर देना पड़ता था, केवल विद्वान और वे ब्राह्मण जिन्हें राज्य द्वारा कोई संरक्षण प्राप्त नहीं हुआ वे कर मुक्त घोषित किए जाते होंगे।[7] 'As a general rule all Brahman as had to pay taxes, excepting those who were learned and poor and had received not state patronage'.

.1 'When Brahamana writers themselves differed on this point it is but natural that all states should not have regarded the recommendation as binding' 'State and governmet in ancient India' पृ० २६८

२. एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द ८, पृ० २०८

३. इन्सक्रिप्शन्स फ्राम मद्रास प्रेसीडेन्सी जिल्द ३, संख्या ७६८ और ९४६

४. उपर्युक्त, जिल्द ८ पृ० २२

५. एपिग्राफिया कर्नाटिका, अर्सिकेर, संख्या १२८

६. इन्सक्रिप्शन्स फ्राम मद्रास प्रेसीडेन्सी, जिल्द २। पृ० १२४५

७. डा० अल्तेकर State and government in ancient India, पृ० २६९

कर वसूलने का औचित्य—

धर्म शास्त्रों के अनुसार राजा प्रजा की सुरक्षा करता है, और वह इसके बदले प्रजा से कर पाता है। प्रजा की रक्षा करना राजा का महत्वपूर्ण कर्त्तव्य था और अपनी इस सेवा के लिये कर रूपी वेतन लेता था। महाभारत में कर को राजा का वेतन बताया गया है।[१] स्मृतियों में भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। मनु के अनुसार प्रजा की रक्षा न करता हुआ यदि राजा प्रजा से करों (Taxes) के द्वारा संचय करता है तो ऐसा राजा नरकगामी होता है और वह प्रजा के सम्पूर्ण पापों के भार का वहन करने वाला बन जाता है।[२]

आय के साधन—

राज्य-आय के मुख्य स्रोत निम्नलिखित थे :—

(अ) कर और शुल्क[3]

(ब) मुख्य अवसरों पर कर

(स) राज्य सम्पत्ति से आय (शुक्र का आयकर)

(द) सामन्तों द्वारा दिये गये उपहार

(ह) दण्ड

हम केवल प्राचीन भारत के कर की विशेषताएं अध्ययन करेंगे।

(अ) कर एवं शुल्क—भूमि कर राज्य-आय का मुख्य साधन था। अभिलेखों में इसे 'भागकर' और 'उद्रंग' कहा गया है। स्मृतियों में कर की एक दर नहीं बताई गई है। आठ से लेकर तैंतीस प्रतिशत तक इनमें बताया गया है।[४] डाक्टर अल्तेकर के अनुसार दरों में अन्तर भूमि की किस्म के कारण था।[५] कुलोतुंग चोलने कर के उद्देश्य से भूमि को ८ वर्गों में विभक्त किया था।[६] स्मृतिकारों में एक मत न होने का कारण सम्भवतः यह भी था कि विभिन्न राज्यों में विभिन्न दरे सम्भवतः होगी अथवा एक ही सरकार द्वारा विभिन्न समय में विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु

---

१. महाभारत, शांतिपर्व ७१, १०

२. पाण्डेय, श्यामलाल डाक्टर, भारतीय राज्यशास्त्र प्रणेता, पृष्ठ ४४;

३. शुक्र, २, ३८४,

४. मनु, ८, १३०, गौतम, १०, २४-२७, अर्थशास्त्र, ५, २,

५. डाक्टर अल्तेकर State and Goverment In Ancient India. पृ० २७०,

६. इन्सक्रिप्शन्स फ्राम मद्रास प्रेसीडेन्सी, जिल्द १, पृष्ठ ११५-३०

विभिन्न दरें निर्धारित की जाती होंगी।[1] अर्थशास्त्र[2] और मेगस्थनीज[3] के अनुसार मौर्य राज्य में कृषि उत्पादन पर २५% कर वसूल किया जाता था। अशोक ने लुम्बिनी गाँव के लोगों को कर में छूट दी थी।[4]

भूमिकर राजा अपने अधिकारियों द्वारा वसूल करवाता था।[5] भूमिकर नगद और वस्तु दोनों रूपों में संग्रह किया जाता था।[6] जातकों द्वारा ज्ञात होता है कि जब फसल तैयार होती थी तो फसल कटने के समय राज्य कर्मचारी खेतों पर जाकर कर वस्तु रूप में संग्रह करते थे।[7]

चुंगी—

व्यापारियों द्वारा आयात की गई वस्तुओं पर चुंगी ली जाती थी। इसमें राज्य का औचित्य था क्योंकि सड़कों और यातायात-मार्गों को राज्य द्वारा सुरक्षित रखने में व्यय करना पड़ता था।[8] चुंगी नगर अथवा गाँव के प्रवेश द्वार पर स्थित्ति शुल्क गृह में शौल्किक अधिकारी द्वारा ली जाती थी।[9]

स्थानीय रीति-रिवाजों के अनुसार चुंगी नगद अथवा वस्तु रूप में अदा करनी पड़ती थी। स्मृतियों द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार अदायगी वस्तु रूप में होती थी। अभिलेखों द्वारा ज्ञात होता है कि विभिन्न स्थानों पर घी, तेल, पान आदि की निश्चित मात्रा चुंगी में देनी पड़ती थी।[10] प्राचीन भारतीय चिंतकों के द्वारा निम्न-लिखित दरें चुंगी की निर्धारित की गई है :—

---

१. डाक्टर अल्तेकर-वही, पृ० २७०
२. अर्थशास्त्र, V, अध्याय, २,
३. मेगस्थनीज, I, ४६,
४. देखिए रुमिन्देयी अभिलेख,
५. शुक्र, ४, ४,११२
६. एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द १५, पृ० २७८-२८६,
७. II, पृ० ३७८
८. शुक्र, ४, २, २५,
९. इण्डियन एन्टीक्वैरी, जिल्द, २५ पृ० १८,
१०. एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द ३, पृ० ३६

चिंतक	दर	वस्तु
(१) मनु[१]	१६%	ईंधन, मांस, मधु, घी, इत्र, दवाइयाँ, फूल सब्जी, मिट्टी-पात्र, चमड़े की चीजें।
(२) कौटिल्य[२]	(अ) ४% से ५%	(अ) दवाइयाँ, ईंधन, चमड़े की बस्तुएँ और मिट्टी, पात्र।
	(ब) ६½% से १०%	(ब) मदिरा और सिल्क।

अधिकतर स्मृतियों में वर्णित पदार्थों पर लगाये गये कर अभिलेखों में भी देखने को मिलते हैं।[३] कौटिल्य ने ऐसे पदार्थों को शुल्क मुक्त बताया है जो धार्मिक; यज्ञों और विवाह संस्कारों के लिये आयात हुए हों।[४]

इसके अतिरिक्त दूकानों पर कर (shop tax) लगाये जाते थे।[५]

बढ़ई; धातु कलाकार आदि राज्य के लिये महीने में एक या दो दिन कार्य करते थे।[६]

एक्साइज ड्यूटी—मदिरा का व्यापार राज्य नियंत्रण में था। इसका उत्पादन आंशिक राजकीय डिस्टिलरी में और आंशिक व्यक्तिगत रूप में होता था। अर्थशास्त्र के अनुसार व्यक्तिगत रूप में तैयार की गई मदिरा पर ५% एक्साइज ड्यूटी पड़ती थी।

खानों से प्राप्त द्रवों पर भी एक्साइज ड्यूटी लगाई जाती थी। शुक्र के अनुसार स्वर्ण और रत्नों पर ५०% चाँदी और ताँबे पर ३३⅓% और अन्य धातुओं पर १६ से २५% आयकर-कर लिया जाता था।[७]

---

१. आददीताथ षड्भांग द्रुमांस मधुसर्पिषाम्।
गंधौषधि रसानां च पत्रफूलफलस्य च॥ मनु ७.१३१ और १३२

२. अर्थशास्त्र II. २२

३. एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द १ पृ० ६ जिल्द १५ पृ० ४१

४. अर्थशास्त्र II २१

५. इन्डियन एन्टिक्वेरी, जिल्द ११ पृ० १२७. एपिग्राफिया इण्डिका जिल्द ३ संख्या ३६

६. मनु, ७, १३८, विष्णु ३.३२

७. शुक्र, ४, २, ११८-१९

लवण पर भी एक्साइज ड्यूटी पड़ती थी। ताम्रदान पत्रों से ज्ञात होता है कि दान प्राप्त ग्रामों को यह अधिकार दिया जाता था कि वे लवण और धातुओं बिना शुल्क दिए खोद सकते थे।[1]

पशु पालन पर भी कर लिया जाता था।[2]

विष्टि—निर्धन व्यक्ति न तो नगद और न वस्तु रूप में ही कर दे सकता था परन्तु वह राज्य द्वारा सुरक्षा पाता था अतः उससे राज्य परिश्रम रूप में कर लेता था अर्थात् राज्य की वह व्यक्ति बिना मजदूरी लिए, एक या दो दिन महीने में अपने शारीरिक परिश्रम द्वारा सेवा करता था।[3]

अतिरिक्त कर—राज्य के पास यह शक्ति थी कि अज्ञात आपत्ति का मुकाबला करने के लिए अथवा बड़ी योजनाओं को सफल बनाने के लिए अतिरिक्त कर लगा सकता था। महाभारत में बताया गया है कि राजा अपना विशेष दूत भेजकर प्रजा को परिस्थिति से अवगत कराए और उसका हृदय जीते।[4] अर्थशास्त्र में अतिरिक्त कर को 'प्रणय' बताया गया है। कृषक से २५% और व्यापारी से ५% से ५०% तक वसूल किया जा सकता था।[5]

इस प्रकार उपर्युक्त विशेषताएँ प्राचीन भारतीय कर व्यवस्था की दिखाई देती है। स्मृतियों में बताए गए सामान्य सिद्धांतों का, जैसा कि हम बता चुके हैं क्या अनुसरण होता था? हमारे पास कुछ ऐतिहासिक प्रमाण हैं जो कि प्रदर्शित करते हैं कि प्राचीन भारतीय राजा कर वसूलयाबी में निरंकुशता बरतते थे। एक जातक में एक गाँव के लोगों की बड़ी दयनीय दशा को बताया गया है, इसके अनुसार उस गाँव के रहने वाले कर वसूलने वाले अधिकारी के भय से भागकर जंगल में छिप गए थे।[6] काश्मीर के राजा ललितादित्य ने अपने उत्तराधिकारियों को यह सलाह दी कि वे प्रजा से इतना कर वसूल करें कि उनके पास केवल वर्ष भर के लिए खाने को शेष रहे।[7] इसी वंश के राजा शंकर वर्मा ने प्रजा से इतना कर वसूला कि प्रजा के पास जीवन निर्वाह के

---

१. इण्डियन एन्टीक्वेरी जिल्द, १८, पृ० ३४.५
२. मनु ७.१.३०,
३. गौतम २.१.३१, मनु, ७.१३८, विष्णु ३.३२
४. महाभारत, १२.८७. २६—३६
५. अर्थशास्त्र V अध्ययन २
६. जिल्द ५; पृ० ९८
७. राज तरंगिणी, VI, पृ०, ३४४ और आगे।

लिये हवा केवल शेष रह गई।[1] कुलोत्तुङ्ग तृतीय के सामन्त ने अवैध कर वसूल किया था और इसके न दे पाने पर लोगों की जमीनें क्रय कर दी गई थी।[2] क्या इन कुछ उद्धरणों पर धारणा बनाई जा सकती है कि प्राचीन भारत में सभी राज्य अवैध कर लेकर निरंकुशता का बोलबाला स्थापित करते थे। ऐसी धारणा हम नहीं बना सकते ये उदाहरण केवल अपवाद मात्र हैं। दक्षिणी भारत के अभिलेखों से दूसरी ओर हमें ज्ञात होता है कि प्रजा ग्राम सभा अथवा पंचायत के माध्यम से केन्द्र की निरंकुशता से अपने हितों और अधिकारों की सुरक्षा करती थी। तंजोर जिले के नाडुओं की कुछ सभाओं ने प्रस्ताव पारित किया कि वे केवल वैधानिक कर अदा करेंगे और राज्य की अन्य मांगों को नहीं मानेंगे।[3] यद्यपि कि वैदिक युग की समितियाँ अब नहीं रह गई थीं अतः केन्द्र की निरंकुशता कुछ बढ़ने लगी थी, परन्तु फिर भी ग्राम सभाओं की कार्यपालिकायें इतनी शक्तिशाली थीं कि अपने वैधानिक हितों और अधिकारों पर केन्द्र के अतिक्रमणों का प्रतिरोध करती थी।[4]

---

१. उपर्युक्त, V १८४
२. डा० अल्तेकर, state and government in ancient India, पृ० २८३,
३. डा० अल्तेकर द्वारा उद्धृत S. I. E. R. संख्या ६५, ६८ और १०४ (१८९७) state and government in ancient India पृ० २८४
४. डा० अल्तेकर वही, पृ० २८४. The village assemblies and their executives were usually strong enough to resist encroachments on their legitimate rights and interests.'

अध्याय : ६

अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्ध

राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार करते समय यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि आज की भाँति प्राचीन भारत एक सूत्र में बँधा हुआ नहीं था। प्रागैतिहासिक काल के बाद राज्य का विकास हुआ ऋग वैदिक युग में "ट्राइबल" राज्य मिलते हैं। ऋग्वेद में इन्द्र को सम्राट कहा गया है, वहीं त्रसदस्यु को भी सम्राट से सम्बोधित किया गया है। वैदिक साहित्य में कई स्थलों पर आर्य नेताओं ने इन्द्र से प्रार्थना की है कि वह शत्रुओं का दमन करे। 'इन मन्त्रों से स्पष्ट होता है कि वैदिक काल में ही अन्य राजाओं को वशवर्ती कर अधिराज, सम्राट तथा एकराट् बनने का विचार विकसित होना प्रारम्भ हो गया था।'[1]

उत्तर वैदिक युग में राष्ट्र की अवधारणा का विकास हो चुका था। जनपदों को सम्भवतः राष्ट्र की संज्ञा दी जाने लगी थी। वैदिक काल में राज्य, महाराज्य, आधिपत्य और सार्वभौम का उल्लेख मिलता है। ऐतिरेय ब्राह्मण की अष्टम पंजिका में भोज्य, स्वराज्य और वैराज्य का उल्लेख हुआ है। ऐसा लगता है कि राष्ट्रों के राजाओं में बहुधा संघर्ष होता रहता था और शक्तिशाली राजा अन्य राष्ट्रों को जीत कर एक राट, सम्राट, अधिराज जैसे पद प्राप्त करते थे। डॉ० अल्तेकर का मत है कि 'स्वराट', 'एकराट', 'सम्राट', और 'अधिराट्' आदि पदवियाँ राजाओं के विभिन्न पदों की सूचक हैं, पर उनकी निश्चित मर्यादा स्थिर करना इस समय कठिन है।' सम्राट सम्भवतः अन्य की अपेक्षा ऊँचा स्थान रखता था, ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि निर्बल राज्य शक्तिशाली राज्यों को कुछ कर देते रहे हों।

वेदोत्तर युग

धर्म सूत्रों और स्मृति साहित्य में युद्ध सम्बन्धी नियमों का ब्योरा मिलता है। विभिन्न राज्यों के विकास से राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में अस्थिरता आ गयी थी विजिगीषु राजा अपने साम्राज्य के विस्तार की सोच सकता था। इस काल में युद्ध सम्बन्धी नियम मानवीय थे। आपस्तम्ब के अनुसार शस्त्रविहीन शत्रुओं का

1.- राधा कृष्ण चौधरी, प्राचीन भारतीय राजनीति और शासन व्यवस्था, पृ० १६०

वध नहीं करना चाहिए। बोधायन का कहना है कि विष से बुझे बाणों का शत्रुओं पर प्रयोग नहीं होना चाहिए। युद्ध में बच्चों और स्त्रियों पर प्रहार नहीं करना चाहिए। गौतम का मत है कि युद्ध में दिवंगत योद्धाओं के परिवार का भरण-पोषण राजा को करना चाहिए। मगध के राजाओं ने अपने साम्राज्य विस्तार के लिए दूसरे राजाओं का वध किया था, अतः पुराणों में उन्हें अधार्मिक कहा गया है। महापद्मनंद अपने साम्राज्य के विस्तार के लिए क्षत्रिय राजाओं का उन्मूलन किया था। यह प्राचीन आर्यों की धर्म मर्यादा के विरुद्ध था।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वर्णित अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्ध मण्डल सिद्धान्त।

कौटिल्य ने अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्ध पर विस्तृत प्रकाश डाला है। 'मण्डल सिद्धांत' का प्रतिपादन कर उन्होंने राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को बताया है। राज्य की चार कोटियां हैं : शत्रु, मित्र, मध्यम और उदासीन।

इन राज्यों में प्रत्येक का मण्डल होता है। इस मण्डल में राजा, राजा का शत्रुराज्य, राजा का मित्रराज्य, मध्यमराज्य, और उदासीन राज्य सम्मिलित थे। युद्ध तो समाप्त नहीं हो सकता है परन्तु इसकी सम्भावना को कम करने का प्रयास किया गया। अतएव राजाओं के विविध राज्यों के मण्डल बनाकर उनमें शक्ति संतुलन बनाये रखने की व्यवस्था की गई है। शक्ति संतुलन के सिद्धांत पर मण्डल सिद्धांत आधारित है। इस सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक राज्य अपने पड़ोसी राज्य का शत्रु और शत्रु के पड़ोसी राज्य का मित्र होता है। मित्र के बाद अरिमित्र, उसके बाद मित्रमित्र और उसके आगे अरिमित्र मित्र होते हैं।

शत्रु राज्य

मण्डल सिद्धान्त के अनुसार दो ऐसे राज्य जिनकी सीमाएं एक दूसरे को स्पर्श करती हों, स्वभावतः वे दोनों शत्रु राज्य होते हैं। उन दोनों में स्पर्धा और प्रतिद्वन्द्विता रहती है। शत्रु राजा की परिस्थित आदि का परीक्षण कर समयानुसार उसके साथ व्यवहार करना चाहिए। शत्रु राज्य तीन प्रकार के थे, प्रकृति शत्रु सहज शत्रु और कृत्रिम शत्रु।

(१) प्रकृति शत्रु—राज्य की सीमा को स्पर्श करने वाले राज्य प्रकृति अरि-राज्य कहे गये हैं। उनके राजा प्रकृति अरिराजा कहे गये हैं।

(२ सहज शत्रु—राजा के स्ववंश में उत्पन्न उत्तराधिकार के लिए संघर्ष करने वाले सहज अरि कहे गये हैं।

(३) कृत्रिम शत्रु—स्वयं विरोध करने वाले को कृत्रिम अरि कहा गया है।

शिशुपाल वध में इन तीनों का उल्लेख हुआ है। इनमें कृत्रिम शत्रु अत्यन्त भयंकर माना गया है।

मित्र राज्य

मित्र राज्य भी तीन प्रकार के थे : प्रकृति मित्र, सहज मित्र तथा कृत्रिम मित्र।

(१) प्रकृति मित्र

राजा के अपने राज्य की सीमा पर स्थित अरिराज्य की दूसरी ओर अरिराज्य की सीमा पर स्थित राज्य को प्रकृति मित्र कहा गया है।

(२) सहज मित्र

माता तथा पिता से सम्बन्धित राजा सहज मित्र माना गया है।

(३) कृत्रिम मित्र

जो राजा आश्रय प्राप्त करता है, वह आश्रय देने वाले राजा का कृत्रिम मित्र होता है।

मध्यम राजा

कौटिल्य के अनुसार विजिगीषु और उसके अरिराजा दोनों के राज्यों की सीमा परिस्थित शक्तिशाली राज्य के राजा को मध्यम राजा कहते हैं। वह दोनों राजाओं को अलग-अलग सहायता देने एवं उनके निग्रह में समर्थ होता है। मध्यम राजा दोनों पर अपना प्रभाव डालने में सक्षम होता है।

उदासीन

विजिगीषु और मध्यम राजा से अलग सप्त प्रकृतियों से सम्पन्न एवं बलशाली राजा जब शत्रु राज्य, मित्र राजा और मध्यम राजा को अलग-अलग अथवा एक साथ सहायता देने या उनके निग्रह में जो समर्थ हो उसे उदासीन कहा गया है। राज्य मण्डल के ये चारों राज्य घटक होते हैं। इन चारों का अलग-अलग राज्य-मण्डल बनता है। 'विजिगीषु उसका मित्र राजा और उसके मित्र राजा, इन तीनों राज्यों के क्रमशः तीन राजा तीन प्रकृति कहलाते हैं और इन तीनों राज्यों में से प्रत्येक की छह-छह प्रकृतियां मिलकर १८ प्रकृतियां हुई जो एक राजमण्डल बनाती हैं।' इसी प्रकार अरि मण्डल, मध्यम मण्डल और उदासीन मण्डल बनते हैं। इसी प्रकार एक वृहदमण्डल बन जाता है जिसमें बारह राज प्रकृति और प्रत्येक राज्य की पाँच प्रकृतियां होती है। कौटिल्य इन्हें द्रव्य प्रकृतियों से सम्बोधित करते हैं। बारह राज्यों की साठ द्रव्य प्रकृतियां होती हैं। एक बृहत् मण्डल का निर्माण बारह राज प्रकृतियों और साठ द्रव्य प्रकृतियों से होता है। मध्यम, विजिगीषु, उदासीन और शत्रु जैसी चार प्रकृतियां मण्डल की मूल हैं।

षाड् गुण्ड

प्राचीन विचारकों ने षाड् गुण्ड का प्रतिपादन किया है। यह राजनीति और

कूटनीति का मूल मंत्र था। यह छह गुण इस प्रकार है : सन्धि, विग्रह, आसन, यान, संश्रय तथा द्वैधीभाव। ये राज्य मण्डल से सम्बन्धित हैं; इनका उद्देश्य क्षय, स्थान और वृद्धि का निश्चय करना है।

(१) सन्धि

दो राजाओं के बीच हुए समझौते अथवा इकरार नामा को संधि कहते हैं। कौटिल्य वह परिस्थितियाँ बताते हैं जिनमें राजा को सन्धि गुण अपनाना चाहिए। कौटिल्य के अनुसार सन्धि कई प्रकार की होती है—हीन सन्धि, परिपणित सन्धि, हिरण्य सन्धि, भूमि सन्धि, अनवसित सन्धि, कर्म सन्धि, सम सन्धि, विषम सन्धि, अति सन्धि आदि। कौटिल्य को छोड़कर अन्य किसी भी प्राचीन विचारक ने इस विषय पर कुछ भी नहीं कहा है।

(२) विग्रह

जब दो राजा एक दूसरे को नीचा दिखाने में जुट जाएं तो इसे विग्रह कहा गया है। राजा को विग्रह गुण तभी पालन करना चाहिए जब वह अपने को बलवान समझता हो।

(३) आसन

कौटिल्य ने स्थान, आसन और उपेक्षण को एक दूसरे का पर्यायवाची माना है। अपनी वृद्धि और भलाई के लिए चुपचाप बैठना ही आसन कहलाता है। आसन दो प्रकार के होते हैं :—

विग्रह्य आसन, सन्धाय आसन

विग्रह्य आसन। जब विजिगीषु और शत्रु दोनों एक दूसरे को नष्ट करने में सक्षम न हो और सन्धि करके कुछ समय के लिए चुपचाप बैठना चाहते हों।

सन्धाय आसन : जब सन्धि करके चुप बैठते हों।

(४) यान

जब एक राजा दूसरे राजा पर आक्रमण करता है तो उसे यान कहते हैं।

(५) संश्रय

अपने शत्रु अथवा बलवान राजा को आत्मसमर्पण कर देना संश्रय गुण कहलाता है।

(६) द्वैधीभाव

एक राजा से सन्धि करना और दूसरे से विग्रह का उपयोग करना द्वैधी भाव होता है।

कौटिल्य ने षाडगुण्य के साथ उपायों को भी बताया है। उपाय चार है—साम, दाम, दण्ड और भेद।

युद्ध सम्बन्धी विचार

युद्ध का मूल कारण था—साम्राज्यपद की आकांक्षा, आत्मरक्षा, राज्य-विस्तार, शक्ति संतुलन, शत्रुओं का मान मर्दन, लोगों की रक्षा आदि।

कौटिल्य ने तीन प्रकार के युद्धों का उल्लेख किया है—प्रकाश युद्ध अथवा धर्म युद्ध, कूट युद्ध और तूष्णी युद्ध। मण्डल सिद्धान्त का मुख्य उद्देश्य राज्यों की सुरक्षा और शक्ति संतुलन से है। वैदेशिक नीति का निर्धारण करते समय विजिगीषु अपने सामने के पाँच राजाओं पर ध्यान केन्द्रित करता था विजिगीषु के पीछे के राज्यों से भी खतरा था। विजिगीषु के पीछे के पड़ोसी राज्य को पार्ष्णि ग्राह कहा गया है, उसके पीछे के राज्य को आक्रन्द, विजिगीषु का मित्र होता था। उसके पीछे के राज्य को पार्ष्णिग्राह्यसार कहा गया है (शत्रु का मित्र) और उसके पीछे के राज्य को आक्रन्दाक्रन्द (मित्र का मित्र)। मण्डल सिद्धान्त के अनुसार विजिगीषु, उसके सामने के पाँच राजा तथा उसके पीछे के चार, मध्यम और उदासीन जैसे बारह राजाओं का मण्डल बनता था।

युद्ध सम्बन्धी सामान्य नियम था कि पराजित राज्य में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। उससे केवल अपनी अधीनता स्वीकार कराके और कर लेकर उसे मुक्त कर देना चाहिए। रघुवंश में धर्मविजयी शासकों के लिए ऐसे नियमों को बताया गया है। स्मृतिकारों ने धर्मविजय पर अधिक बल दिया है। विदेशी यात्रियों ने भी इस विजय की भूरि-भूरि प्रशंसा की हैं और वे आश्चर्यचकित अवश्य रह गए थे। मनु ने कहा है कि शत्रु पर उस समय कभी भी आक्रमण नहीं करना चाहिए, जब वह सावधान न हो, पूरी तरह शस्त्रों से तैयार न हो या किसी तरह की विपत्ति में फँसा हो। महाभारत में भी धर्म विजय को प्रोत्साहन दिया गया है। कहा गया है कि राजा कभी भी अधर्म से पृथ्वी की विजय की आकांक्षा न करे।

प्राचीन भारत में विजिगीषु जीते हुये राज्य को कभी भी अपने में नहीं मिलाता था, वरन् पराजित राज्य आन्तरिक स्वायत्तता रखते थे। समुद्र गुप्त ने दक्षिण भारत में ग्रहण, मोक्ष, अनुग्रह की नीति अपनायी। हर्ष के समय भी बहुत से करद और सामन्त थे। दक्षिण भारत में भी बहुत से स्वायत्त शासन थे। प्राचीन भारत में युद्ध की भीषणता से सामान्य वर्ग को बचाने का प्रयास हुआ था। युद्ध काल में उत्पादन पर असर नहीं पड़ता था। कृषि कार्य चलता रहता था। इसकी पुष्टि हमें मेगास्थनीज, ह्वेनसांग आदि से मिलती है।

दूतों की व्यवस्था

दूत प्रथा भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका रखती है। रामायण, महाभारत,

अर्थशास्त्र, मानवधर्मशास्त्र आदि में इसकी विस्तृत चर्चा हुई है। कौटिल्य के अनुसार राजा अपने दूतों द्वारा ही कार्य को सम्पादित करता है। दूत बड़े ही महत्व के थे। मनु के अनुसार राजाओं के मध्य सन्धि और विग्रह का कार्य दूत के आधीन होता था। कौटिल्य के अनुसार दूत को अवध्यता का विशेषाधिकार प्राप्त था। कौटिल्य ने दूतों की तीन कोटियाँ बताई हैं, निस्सृष्टार्थ, परिमितार्थ और शासनहार। महाभारत के अनुसार दूतों को कुलीन, सुवक्ता, दक्ष, प्रियभाषी, यथोक्तवादी और स्मृतिवान होना चाहिये। मनु ने भी उसकी योग्यताओं का वर्णन किया है। प्राचीन भारत में दूतों का इतिहास मिलता है। चन्द्रगुप्त के दरबार में मेगास्थनीज यूनानी दूत था। बिन्दुसार तथा यूनानी राज्यों के दौत्य सम्बन्ध ज्ञात हैं। बिन्दुसार के दरबार में यूनानी दूत डायमेकस था। द्वितीय शताब्दी ई० पू० में तक्षशिला के यवन राजा अन्तलिकितस ने अपना दूत हेलियोडोरस विदिशा में शुंग राजा भागभद्र के दरबार में भेजा था। चालुक्य राजा पुलकेशिन द्वितीय के दरबार में ईरान का राजदूत आया था।

सामन्त राज्यों के साथ सम्बन्ध

डॉ० अल्तेकर का मत है कि वैदिक युग में ही करद सामन्त व्यवस्था विद्यमान थी। प्राचीन भारत में वेदोत्तर काल में इनकी संख्या बढ़ गयी थी। धीरे-धीरे करद सामन्तों के यहाँ भी वंशक्रमानुगता की प्रथा चल पड़ी। ये लोग महाराज महाराजाधिराज, महामण्डलेश्वर, महासामान्ताधिपति, महासामन्त, सामन्त आदि पदवियों से विभूषित होने लगे। कभी-कभी सामन्त सम्राट की अनुमति से उपसामन्त भी बना लेते थे। सम्राट की तरह सामंतों का भी प्रभाव होता था। उन्हें सम्राट से पंचमहाशब्द का अधिकार भी मिलता था।

साम्राज्य के हित को ध्यान में रखते हुये बड़े-बड़े सामन्तों के दरबारों में सम्राट् की ओर से प्रतिनिधि भी भेजा जाता था। सम्राट अपने गुप्तचरों के माध्यम से इन राज्यों का समाचार लेता था। कभी-कभी सामन्त भी अपना प्रतिनिधि सम्राट के दरबार में रखते थे जैसे बनवासी के सामन्त शासक का प्रतिनिधि राष्ट्रकूट अमोघवर्ष के दरबार में रहता था। विशेष अवसरों पर ये सामन्त सम्राट को नजराना देते थे। गुप्त काल में सामन्तों को कुछ इकरार करना पड़ता था और उन शर्तों का उल्लेख उन फरमानों में भी होता था जिनके द्वारा उन्हें राज्य वापस किया जाता था। हर्ष के बाद के लेखों से ज्ञात होता है कि सामन्त राजा को सैनिक सहायता भी देते थे। गुप्त वंश में उच्चकल्प और परिव्राजक को विशेषाधिकार प्राप्त थे वे अपने को सामन्त राजा कहलाते थे। सामन्त यदि दान करना चाहते थे तो उसकी अनुमति

सम्राट से लेते थे जैसे (अ) वाकाटकों के सामन्त नारायण महाराज और शत्रुघ्न महाराज ।

(ब) वैण्यगुप्त का सामंत रुद्रट
(स) कदम्बों का सामंत भानुशक्ति
(द) गोविन्द तृतीय राष्ट्रकूट का सामंत बंधुवर्ष
(ह) राष्ट्रकूट ध्रुव का सामंत शंकरगण

केन्द्रिय सत्ता जब निर्बल होने लगती थी तो ये सामंत स्वेच्छाचारी नीति भी अपनाने लगते थे कभी स्वतंत्र होकर नवीन शक्ति की स्थापना कर लेते थे जैसे मौखरी, परवर्ती गुप्त आदि ।

अध्याय : १०

ग्राम तथा नगर शासन पद्धति

(अ) ग्राम शासन पद्धति

प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था की मुख्य धुरी गाँव थे। आधुनिक युग की भांति जब यातायात के साधन अधिक सुलभ नहीं रहे थे और नहीं संचार व्यवस्था इतनी सशक्त थी ऐसे समय में ग्राम का महत्व निश्चय ही रहा होगा।

वैदिक युग में शासन व्यवस्था का आधार ग्राम था। हमें वैदिक मन्त्रों में गाँवों की सम्पन्नता हेतु प्रार्थनायें मिलती हैं। ग्रामिणी 'ग्राम' का मुखिया था। सम्भवत: ग्रामीणी को राजकृत। कहा गया हैं।[1] वैदिक युग में जब राज्यों का आकार बड़ा नहीं था, इसमें ग्रामों का महत्व बढ़ गया हीगा, क्योंकि शासन की सबसे छोटी इकाई थे। जातकों में भी ग्रामों का उल्लेख मिलता है। 'ईसवी सन की प्रारम्भिक सदियों में इसे उत्तर भारत में 'ग्रमिक' या 'ग्रामयक' और 'तैलंग देश' में 'मुनु'द कहा जाता था और ६०० से १२०० ई० के बीच महाराष्ट्र में 'ग्रामकूट' या 'पट्टकील' कर्नाटक में 'गाबुन्द' और युक्त प्रांत में 'महत्तक' या 'महंतक' कहा जाता था।'[2]

मौर्य युगीन ग्राम शासन पद्धति

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में ग्राम शासन पद्धति की विस्तृत जानकारी मिलती है। प्रत्येक गाँव अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता था। गाँव के शासकको ग्रामिक कहते थे। ग्रामिक अपराधियों की दण्ड दे सकता था, किसी भी व्यक्ति को गाँव से निकाल सकता था। 'ग्राम' की अपनी निधि होती थी, जुर्मानों से मिला धन इस निधि में जमा कर दिया जाता था। ग्राम सार्वजनिक हित के भी कार्य करता था। इसके न्यायिक कार्य भी थे। ग्राम सभाओं में बनाये गये नियमों का आदर साम्राज्य के न्यायालयों में भी होता था।

गाँव की स्वायत्त संस्था थी। इसे ग्राम संघ कहते थे। इसके सदस्यों को ग्रामवृद्ध कहते थे। गांव के रहने वाले सभी कुलों और परिवारों के मुखियाओं (वृद्धों)

---

१. राधाकृष्ण, चौधरी, प्राचीन भारतीय राजनीति और शासन व्यवस्था, पृ० २०६

२. अलतेकर प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० १६८-६६

द्वारा ही ग्राम संघ का निर्माण होता था। ग्राम वृद्ध अपराधियों को दंड दे सकते थे, उन्हें जुर्माना वसूल करने का अधिकार था, ग्राम निवासियों के कल्याणार्थ कार्यों को सम्पादित करने का अधिकार था। नाबालिगों की सम्पत्ति का प्रबन्ध भी इनके जिम्मे था। धार्मिक कार्य भी ग्राम संघ करता था—जैसे मन्दिरों तथा देवस्थानों का प्रबन्ध करना।

गोप

केन्द्र सरकार ग्राम प्रशासन हेतु एक कर्मचारी नियुक्त करती थी। इस कर्मचारी को गोप कहते थे। केन्द्र सरकार की तरफ से गोप के निम्न कार्य निर्धारित किए गए थें :

(१) ग्रामों की सीमायें निर्धारित करना
(२) जनगणना करना
(३) भूमि का विभाग करना

'गोप' के रहते हुए भी 'ग्रामिक' तथा 'ग्रामसंघ' का महत्व कम नहीं किया जा सका था।

संग्रहण :

१०-१० गाँवों को संगठित किया गया था जिसे संग्रहण कहते थे।

सार्वटिक :

२००-२०० गाँवों के सामूहिक प्रशासन केन्द्र को द्रोण मुख कहते थें।

स्थानीय :

८००-८०० गाँम संघ को महाग्राम कहा गया है। इसके प्रशासन केन्द्र को स्थानीय कहा गया है।

ग्राममृतक :

गाँव की तरफ से वेतन देकर जो कर्मचारी नियुक्त किया जाता था उसे ग्राम मृतक कहते थे।

परन्तु ऐसे लोग जो गाँव की सेवा करते थे उन्हें लगान मुक्त भूमि दी जाती थी। हरेक गाँव अपने चारागाह पूजापाठ, शिकार आदि के लिए सुरक्षित जमीन रखता था।

आर्थिक उन्नयन हेतु गाँव व्यापार की उन्नति करता था, यातायात के साधन सुलभ कराता था। ग्रामनियमों का उल्लघन दण्डनीय था। अलतेकर का मत है कि मौर्य युग में किसी कार्यकारी परिषद का विकास नहीं हो पाया था क्योंकि अर्थशास्त्र विश्वस्त रूप से कार्य करने वालों में ग्राम-वृद्धों का उल्लेख करता है किसी समिति या उपसमिति का नहीं।''[1]

१. अलतेकर, उपर्युक्त, पृ० १७१-१७२

गुप्तयुगीन ग्राम शासन पद्धति

गुप्त काल में मुखिया ही ग्राम शासन का अधिकारी था। इसे ग्रामाध्यक्ष या ग्रामसेवक भी कहते थ। इस ग्रामाध्यक्ष की सहायता के लिए एक छोटी पंचायत थी। गुप्त शासन में ग्राम पंचायत को जनपद कहा गया है और नालंदा में अनेक जनपदों की मुद्राएं मिली हैं। इनसे ज्ञात होता हैं कि 'ग्राम-जनपदों द्वारा नालंदा के अधिकारियों को जो पत्रादि भेजे जाते थे उन सब पर उनकी मुहर लगती थी।'[२]

पंचायत अथवा पंचमण्डली

गुप्त ग्राम प्रशासन में पंचायत तथा पंचमण्डली की महत्वपूर्ण भूमिका थीं। सांची प्रस्तर लेख से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के सेनापति आम्रकदिव ने एक ग्राम की पंचमंडली को २५ दीनारे एक विशेष प्रयोजन के लिए दी थीं। बाकाटक तथा पल्लव शासन व्यवस्था में पंचायत के सदस्यों का महत्तर कहते थे। ग्रामपचायत को विस्तृत अधिकार थे। ६०० ई० के लगभग ग्राम वद्ध अपनी एक कार्यकारणी समिति संगठित कर चुके थे जिसे महत्तराधिकारिणी अथवा अधिकारिमहतराह कहते थे। यह जानकारी हमें गुजरात और'दक्खन के अभिलेखों से मिलती है। हर्ष के समय में हमें ग्रामाध्यक्ष का उल्लेख मिलता है इसकी सहायता के लिये कणिक रहा करते थे।

राष्ट्रकूत शासन व्यवथा में ग्राम प्रशासन—उस समय ग्राम का प्रमुख अधिकारी ग्राम कूह था। वह ग्राम में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखता था। इसकी सहायता के लिये एक लेखक होता था। वह कर वसूल करने का अधिकार रखता था। कभी-कभी विषयपति के कामों में भी सहायता करता था। प्रत्येक गाँव में एक ग्राम पंचायत रहती थी जिसमें वृद्ध अनुभवी और चरित्रवान लोग ही निर्वाचित होते थे। सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि सभी प्रकार में कार्यों के लिये पंचों की पृथक-२ उपसमितियां थी। ये उपसमितियाँ ग्रामकूत के सहायता से अपना काम करती थी। ये पँचायते टष्ट्री का कार्य करती थी। गाँव की आय का ब्योरा पंचायतों के पास रहता था। ये पंचायते न्यायिक कार्य भी करती थी।

पल्लव शासन में ग्राम प्रशासन:—पल्लव शासन में भीं पंचायतों का अस्तित्व था। उल्लेखनीय हैं कि राजा का उपप्रीग ग्रामेयक अथवा भूतक को भेजा जाता था। किसी बिशाल वृक्ष की छाया (मनरम) के नीचे लोग एकत्रित होकर ग्राम शासन से सम्बन्धित कार्य करते थे। पूर्वकालीन पल्लव अभिलेखों में ग्रामसभा का उल्लेख मिलता है। ग्रामसभा के सभासद वसूलने का अधिकार रखते थे।

---

२. वही, पृ० १०२

चोल ग्राम्य शासन—चोल प्रशासन में ग्रामसभा तथा उसकी समिति के कार्यों का विस्तृत विवरण मिलता है। सामान्यत: ग्रामों की सभा को उर कहते थे और अग्रहार ग्रामों की सभा को सभा कहते थे। ग्राम सभा की सूचना डुगडुगी पिटवाकर लोगों को दी जाती थी इसका प्रमुख कार्य पंचायत अथवा कार्यकारिणी समिति का चुनाव था। यह कार्य उस में एकत्रित सभी ग्राम वासियों की राय से होता था। कार्यकारणी को 'आजूअंन' कहते। अग्रहार ग्राम में शासन कार्य को ग्रामसभा की ५ उपसमितियां करती थो इनके सदस्यों का कार्यकाल एक वर्ष होता था। सदस्यों अवस्था ३५-७० वर्ष के बीच होती थी। अभिलेखों में ऐसे उल्लेख आये हैं लब दुष्चरित्र और भ्रष्ट व्यक्तियों को सदस्यता से वंचित रखा जाता था। सदस्या प्राप्त करने के लिये सदस्य के पास अपना मकान और कम से कम दो एकड़ कर देने वाली भूमि का होना आवश्यक था।

पंडित और विद्वानों के लिये एक एकड़ जमीन ही पर्याप्त मानी जाती थी। चोल प्रशासन में प्रत्येक ग्राममभा अपना स्वयं विधान बनाती थी और सभा के सदस्य ही विधान में सशोधन करते थे। हमें बाते अथवा मतदान की प्रथा भी मिलती है। तीस निर्वाचित व्यक्ति भिन्न-२ उपसमितियों में रखे जाते थे।

पहली उपसमिति—यह गाँव के उद्यान और फलों की देख-रेख करती थी।

दूसरी उपसमिति—में गाँव के सीवर और जल प्रणाली का रख-रखाव करती थी।

तीसरी उपसमिति—यह पारस्परिक झगड़ों का निबटारा करती थी।

चौथी उपसमिति—में सोने की परख और उसका मान निर्धारित करती थी।

पाँचवी उपसमिति—इसे पंचकार कहते थे। लेकिन इसमें कार्यों का ठीक-२ पता नहीं।

सांवत्सरवारियम्—यही पांचों समितियों की देख-रेख करती थी इसके सदस्य अनुभवी होते थे। चोल अभिलेखों में कहीं-२ भूमि माप समित देवालय समित शिक्षण समित का भी उल्लेख मिलता है।

ग्रामसी का महत्व—ग्राम प्रशासन में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका थी। इसका उल्लेख प्राचीन भारतीय अभिलेखों में भी मिलता है। ग्रामसी को कभी २ ग्रामिक; ग्रामयेक, मुनुन्द, ग्रामकूट, पट्टकील, गावुन्द, महत्तक भी कहते थे। मुखिया का पद अनुवांसी होता था और ब्राह्मणेतर लोगों द्वारा भरा जाता था। वैदिक काल में उसका पद बड़े महत्व का था। ग्राम की रक्षा उसका प्रमुख कार्य था। उसका दूसरा कार्य वसूल करना था। केन्द्रीय सरकार की ओर से उसे कर मुक्ति भूमि मिलती थी। जैसा कि उपर्युक्त सर्वेक्षण से ज्ञात है कि ग्राम वृद्धों की राय से वो ग्राम प्रशासन

चलाता था। जातकों में ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि वृद्ध कभी-कभी मुखिया की गलती बताकर भूल मुई करते थे अर्थशास्त्र में ग्रामवृद्धों का उल्लेख मिलता है। पल्लव तथा वाकाटक अभिलेखों में ग्रामवृद्धों को महत्तर कहते थे जो मुखिया अथवा ग्रामिणी की सहायता करते थे।

ग्राम पंचायत के कार्य :—अभिलेखों तथा साहित्यिक लक्ष्यों से ग्राम पंचायत के निम्नलिखित कार्य मिले हैं।

(i) उगाही वसूल करना तथा कर लगाना।
(ii) संकटकाल में लोगों की सहायता करना जैसे लगान से छूट सार्वजनिक ऋण देना।
(iii) गाँव की ऊसर भूमिका स्वामित्व ग्रहण करना।
(iv) गाँव के लोगों के झगड़ों का निर्धारण करना।
(v) दीवानी से सम्बन्धित मुकदमों का फैसला करना।
(iv) छोटे मोटे अपराधों का फैसला करना।
(vii) देवालयों और सार्वजनिक स्थानों को सुरक्षित रखना।
(viii) सार्वजनिक हितों को पूरा करना।
(ix) गाँव की आर्थिक उन्नति करना।
(x) दक्षिण भारत में कभी-कभी ग्राम पंचायते साहूकार का भी कार्य करती थी।
(xi) शिक्षा की व्यवस्था करना।

उपर्युक्त सर्वेक्षण से ज्ञात होता है कि समस्त भारत में ग्राम संस्थायें संगठित थी। राजनैतिक परिवर्तन हुए परन्तु ग्राम संस्थायें कार्य करती रही।

(ब) नगर शासन पद्धति

नगर प्रशासन का विस्तृत विवरण मौर्य काल में मेगास्थनीज से मिलता है। मौर्य कालीन नगर स्थानीय सुशासन रखते थे। मेगास्थनीज कहता है ये कार्य है जो उपसमितियाँ पृथक-पृथक रूप से करती है पर सामूहिक रूप से जहाँ उपसमितियों को अपने-अपने विशेष कार्यों का ख्याल करना होता है वहाँ वे सब मिलकर सार्वजनिक या सर्वसाधारण के हित के कार्यों पर भी ध्यान देती है। यथासार्वजनिक इमारतों को सुरक्षित रखना उनकी मरम्मत का ख्याल रखना। कीमतों को नियंत्रित रखना, बाजार बन्दरगाह और मंदिरों पर ध्यान देना।

कौटिल्य के अनुसार नगर के शासक को नागरक कहते थे। शासन को सुचारु रूप से चलानें के लिये नगर को अनेक उप विभागों में बाँटा गया था। मेगास्थनीज

के अनुसार तीस नागरिकों की एक सभा पाटलीपुत्र का शासन चलाती थी। मेगास्थनीज के विवरण से पाठलिपुत्र के स्वायत्य शासन का संकेत मिलता है। नागरक स्वशासन के लिये उत्तरदायी था। कौटिल्य के अनुसार नागरक का निम्न कार्य था।

(i) नगरों की सफाई।

(ii) अपरिचित यात्रियों पर नियंत्रण।

(iii) अग्नि से मकानों की रक्षा।

(iv) भोजन की शुद्ध रूप में प्रगति।

नागरक सभाहर्ता के आधीन था। नागरिक नियमों का उलंघन करने पर दण्ड की व्यवस्था थी। मेगास्थनीज के अनुसार नदी तट, समुद्रतट अन्य स्थानों पर बसे गये थे। नगर पालिकाओं द्वारा साधारण नगर वासियों को सुखी जीवन प्रदान करने की व्यवस्था थी। नगरपालिका मदिरालय, देवालय, सार्वजनिक स्थान आमोद-प्रमोद के स्थान आदि की देख-रेख करती थी।

मेगास्थनीज नगर के प्रमुख अधिकारी को 'अस्तोनोमोइ' कहता है। इसका समीकरण नागरक से किया जा सकता है। मेगास्थनीज कहता है कि नगरों की फैक्ट्रियों पर सरकारी नियंत्रण था। कौटिल्य प्रत्येक फैक्ट्री पर सरकारी अध्यक्ष का उल्लेख किया है जैसे सूत्राध्यक्ष, सौवर्णिक लक्षणाध्यक्ष, लोहाध्यक्ष आदि। मेगास्थनीज ने नगर अधिकारियों में से एक ऐसे वर्ग का उल्लेख किया है जिसका नाम था मदिरालय पर नियंत्रण, बाहर से आनेवालों की देखभाल तथा उनकी चिकित्सा की व्यवस्था करना। उसके अतिरिक्त एक समित नगर के लोगों की मृत्यु और जन्म का हिसाब रखती थी। कौटिल्य के स्थानिक और गोप यही कार्य करते थे। इसके अलावा मेगास्थनीज और कौटिल्य बाजार नियंत्रण बताते हैं। इसके अतिरिक्त नगर प्रशासन में एक समित ऐसी थी जो माप तोल तैयार माल का निरीक्षण, खाद्य-सामग्री और आयात पर नियंत्रण रखती थी।

मेगस्थनीज के द्वारा वर्णित पाटलीपुत्र का प्रशासन पाटलीपुत्र की नगर सभा में तीस सदस्य थें ५–५ सदस्य मिलकर एक उपसमित बनाते थें। इस प्रकार ६ उप-समितियाँ थी।

पहली उपसमित—इसका कार्य औद्योगिक तथा शिल्प सम्बन्धी कार्यों का निरीक्षण करना था। शिल्पियों को क्षति पहुँचाने वालों को मृत्यु दण्ड मिलता था।

दूसरी उपसमित—इसका काय विदेशियों की देखरेख करना था। यह समित विदेशियों के आवास स्वास्थ्य और सुरक्षा पर ध्यान देती थी। पाटलीपुत्र में यदि किसी की मृत्यु हो जाय तो उस विदेशी के देश की प्रथा के अनुसार उसका दाह संस्कार होता था। उस स्वर्गीय विदेशी की सम्पत्ति का प्रबन्ध भी करती थी।

तीसरी उपसमित—यह जनगणना का काय करती थी।

चौथी उपसमित—यह क्रय-विक्रय के नियमों का निर्धारण करती थी। यह समिति माप तोल शुद्ध वस्तुओं की बिक्री पर ध्यान देती थी।

५वीं उपसमित—यह समित व्यापारियों पर निरीक्षण करती थी कि कहीं वे नयी और पुरानी वस्तुओं को मिलाकर तो नहीं बेचते हैं।

छठी उपसमित—इसका काय क्रय विक्रय पर कर वसूल करना था।

गुप्त युग की नगर शासन प्रणाली

वैशाली से प्राप्त मुहरों द्वारा नगर शासन प्रणाली पर प्रकाश पड़ता है। एक मुहर पर उदानकूप नामक नगर परिसा (परिषद) का उल्लेख हुआ है। शहरों अथवा नगरों का शासन पुरपाल नामक एक कर्मचारी संचालित करता था। गुप्त काल में नगर समिति पानी का प्रबन्ध करती थी, नगर को साफ रखती थी, तथा प्रजा के मनोरंजन के कार्य करती थी।

गुप्तोत्तर काल में नगर शासन

गुप्त युग के बाद भी किसी न किसी रूप में नगर शासन अवश्य विद्यमान रहा होगा। हमें कोट्टपाल नगर शासन से सम्बन्धित मिलता है। राधाकृष्ण चौधरी का विचार है कि कोट्टपाल की व्यवस्था सामन्त पद्धति के बाद हुई। शासन को ठीक ढंग से संचालित करने के लिए नगर या पुर को कई भागों में बांटा जाता था। राजपूताना में इसे 'वाडा' कहते थे। इनके सदस्यों को वाड़ या वारिक कहते थे। वारिकों का उल्लेख गुजरात के एक लेख में हुआ है। वारिकों की संख्या प्रत्येक नगर में अलग अलग होती थी। इनका कार्य था—कर वसूलना, सार्वजनिक धन का लेन देन करना, सार्वजनिक कार्यों की व्यवस्था करना आदि। इनकी सहायता के लिए कर्मचारी होते थे जिन्हें वेतन मिलता। वारिकों के कार्यालय को स्थान कहा गया है। राष्ट्रकूट और चालुक्य शासन में पुर समिति थी।

अध्याय ११

शासन व्यवस्था का सर्वेक्षण

(१) ऋग्वैदिक कालीन शासन व्यवस्था

अलतेकर के अनुसार प्राचीन यूनान नगर राज्यों की भांति वैदिक युगीन राज्य छोटा होता था, इसका क्षेत्रफल आधुनिक जिले जैसा होता होगा। राज्य की सबसे छोटी इकाई कुटुम्ब थी। कई कुटुम्बों को मिलाकर ग्राम बनता था। ग्राम का मुखिया ग्रामणी था। यह बताना कठिन है कि वह राजा के द्वारा मनोनीत होता था अथवा उसका निर्वाचन होता था। ऋग्वेद काल में प्रशासन मुख्य धुरी था। कई ग्रामों को मिलाकर विश बनता था। इसका प्रधान विशपति था कई विशों को मिलाकर 'जन' बनता था। कई जन मिलकर राष्ट्र बनाते थे।

राजा

ऋग्वैदिक युग में राजा का पद विद्वानों में विवाद ग्रस्त रहा हैं। ऋग्वेद में एक स्थल में विश द्वारा राजा के निर्वाचन का उल्लेख मिलता है इस काल में राजा का पद महत्वपूर्णं एवं सम्मानित था। राजा को 'राजन्य' की पदवी प्राप्त थी।

कर्मचारी

ऋग्वेद में कुछ महत्वपूर्णं पदाधिकारियों का उल्लेख मिलता है जैसे सेनानी, ग्रामणी, पुरोहित आदि।

सभा तथा समिति

अथर्ववेद में सभा तथा समिति को प्रजापति की दुहिताय़ें कहा गया है। इस युग की सर्वोच्च सम्प्रभु संस्था थी इनके महत्व को पिछले अध्याय में प्रदर्शित किया जा चुका है। राजा समिति की दया पर आश्रित दिखाई देता है।

इसके अतिरिक्त इस युग में न्याय व्यवस्था अपनी प्रारम्भिक स्थित में थी। सेना में पैदल सैनिकों तथा रथ का अधिक महत्व था।

उत्तर वैदिक शासन व्यवस्था

उत्तर वैदिक युग राज्यों का आकार बडा हो गया था। राष्ट्र की अवधारणा

● हम यहाँ पर संक्षेप में वैदिक, मौर्य, गुप्त तथा चोल प्रशासन की विशेषताओं का उल्लेख करेंगे।

विकसित हो चुकी थी। राजाओं को 'महाराज'; 'सम्राट', 'एकराठ', जैसी पदवियाँ प्राप्त होने लगी थीं।

राजा

शतपद ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि राजा का निर्वाचन होता था लेकिन जैसा कि राजतंत्र के अध्याय से स्पष्ट है कि निर्वाचन व्यवस्था अव्यवहृत हो गयी थी। दस से लेकर चार पीढ़ियों तक राजतंत्र आनुवंशिक प्रतीक होता है।

राजा की प्रतिष्ठा और महत्व बढ़ गया था यह उसके अभिषेक संस्कार से विदित होता है कि है।

रत्निवर्ग

उत्तर वैदिक युग में हमें कुछ अधिकारियों के नाम मिलते हैं जिन्हें रत्निन कहा गया है। उनका महत्व इसी से स्पष्ट हो जाता है कि राजा अपने अभिषेक की पूर्व वेला में रत्नियों के घर जाकर उन्हें हवियाँ प्रदान करता था। प्रमुख रत्न इस प्रकार थे ग्रामणी, सूत, पालागल, अक्षावाप, संग्रहीता, भागधुह, राजमहिषी पुरोहित क्षता आदि।

सभा समिति

उत्तर वैदिक युग में सर्वोच्च शक्ति रखने वाली संस्थाएं सभा-समिति थीं। इनके महत्व और स्वरूप की चर्चा प्रतिनिधि संस्थाओं वाले अध्याय में हो चुकी है।

ऋग्वैद युग की तुलना में इस काल में राजा के अधिकार बढ़ गये थे। राज्य की आय के प्रमुख साधन भूमि कर तथा व्यापार थे।

मौर्य शासन व्यवस्था

जहाँ वैदिक कालीन शासन व्यवस्था अस्पष्ट है वहीं मौर्य युगीनशासन व्यवस्थ का कौटिल्य का अर्थशास्त्र अशोक के लेख मेंगास्थनीज की इण्डिका द्वारा स्पष्ट चित्र मिलता है।

गणतंत्र

जैसाकि गणराज्य वाले अध्याय से ज्ञात होता है कि सिकन्दर के आक्रमण के समय पश्चिमोत्तर भारत में गणतन्त्र मौजूद थे। परन्तु अर्थशास्त्र में गणराज्यों का विशेष उल्लेख नहीं मिलता है। डा० अल्तेकर का विचार है कि सम्भव है कि कुछ गणतंत्र सामन्तों के समान आधीनता स्वीकार कर करद राज्यों के रूप में बचे भी होंगे।

राजतंत्र

मौर्य युग में राजतंत्र ही सर्वत्र मौजूद था। राजपद आनुवांशिक था। राजा का ज्येष्ठ पुत्र ही बहुधा उत्तराधिकारी होता था अर्थशास्त्र के अनुसार राजा में कुछ गुणोंका होना आवश्यक था जैसे उत्तम कुल में जन्म, दैवी बुद्धि और शक्ति से सम्पन्न वृद्ध जनों का आदर करने वाला, धार्मिक, सत्यभाषण करनेवाला. कृतज्ञ, उत्साही, दूरदर्शी, तीक्ष्ण बुद्धि वाला आदि।

राज्य का सर्वोच्च अधिकारी राजा था। शासन की सम्पूर्ण सत्ता राजा में केन्द्रित थी परन्तु वह निरंकुश नहीं था। राजा के तीन प्रमुख कर्तव्य थे—शासन सम्बन्धी, न्यायसम्बन्धी और सैनिक कार्य।

मंत्रि मंडल

कौटिल्य के अनुसार जिस प्रकार अकेला पहिया रथ को खींच नहीं सकता है उसी प्रकार अकेला राजा मंत्रियों की सहायता के बिना राज्य रूपी रथ को संचालित नहीं कर सकता है। राजा को चाहिए कि वह तीन अथवा चार मंत्रियों में मंत्रणा लें। मंत्रियों का कर्तव्य था कि वह मंत्र की गोपनीयता बनाये रखें। कौटिल्य ने मंत्रियों के गुणों और उनकी नियुक्ति से सम्बन्धित बातों की विस्तृत जानकारी दी है काशी प्रसाद जायसवाल ने अशोक के अभिलेखों में वर्णित 'राजूक' अधिकारी का समीकरण मंत्री के साथ किया है।

केन्द्रिय शासन

अर्थशास्त्र में अठारह विभागों (तीर्थों) का वर्णन मिलता है :

(१) मंत्री (२) पुरोहित, (३) सेनापति, (४) युवराज, (५) दौवारिक, (द्वारों के रक्षक), (६) अंतर्वेशिक (अंतः पुर का रक्षक) (७) प्रशास्त्र (पुलिस विभाग का अध्यक्षा), (८) समाहर्ता (कर वसूली करनेवाला अधिकारी), (९) सन्निधाता (कोषाध्यक्ष), (१०) प्रदेष्टा (विषयों अथवा कमिश्नरियों का शासक (११) नायक (नगर का पुलिस अधिकारी) (१२) पौर (राजधानी का शासक) (१३) व्यावहारिक (न्यायाधीश), (१४) कर्मान्तिक (कारखानों का अधिकारी)- (१५) कार्ज परिषदाध्यक्ष (परिषद का प्रधान) (१६) दण्डपाल (पुलिस अधीक्षक), (१७) दुर्गपाल (१८) अन्तपाल (सीमारक्षक)।

अर्थशास्त्र में हमें विभागों के अध्यक्षों की भी सूचना मिलती हैं जैसे कोषाध्यक्ष, लौहाध्यक्ष, लक्षणाध्यक्ष आदि।

सेना विभाग का शासन

प्लिनी का कथन है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के पास रथों के अलावा छ लाख पदाति तीस हजार अश्वारोही और नौ हजार गज थे। कौटिल्य के अनुसार सेना का प्रबंध करने वाला अधिकारी 'बलाध्यक्ष' कहलाता था।

मेगास्थनीज के अनुसार सेना का निरीक्षण करने के लिए तीस सदस्यों की एक प्रबन्धकारिणी समिति थी। छह समितियाँ थीं तथा प्रत्येक समिति में पांच सदस्य थे।

प्रथम समिति—यह जल व्यवस्था का कार्य सम्भालती थी।
द्वितीय समिति—सेना की सामग्री तथा रसद का प्रबंध करती थी।
तृतीय समिति—पैदल सैनिकों की देखभाल करती थी।
चतुर्थ समिति—यह अश्वारोही सेना की देखभाल करती थी।
पंचम समिति—यह गज सेना का प्रबन्ध करती थी।
षष्ट समिति—यह रथ सेना का प्रबन्ध करती थी।

अर्थशास्त्र में मौल, भृत बल, श्रेणीबल, अरिबल और मित्रबल का उल्लेख हुआ है। सेनाध्यक्ष के अलावा हस्त्यध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष, गो-अध्यक्ष आदि प्रमुख सैनिक अधिकारी थे। सैनिक दृष्टि से दुर्गों का भी महत्व था। कौटिल्य ने स्थलदुर्ग, जलदुर्ग, गिरिदुर्ग और मरुदुर्ग का वर्णन किया है।

गुप्तचरविभाग

सेना विभाग में चुस्ती लाने के लिए गुप्तचर विभाग था। एरियन ने इन्हे ओवरसियर तथा स्ट्रैबो ने इन्हें इंस्पेक्टर कहा है। स्त्रियों तथा गणिकाओं को भी गुप्तचर विभागों में रखा जाता था। कौटिल्य ने संस्था तथाः संचाराः गुप्तचरों का उल्लेख किया है।

परराष्ट्र विभाग

मौर्यों में यह अत्यन्त चुस्त विभाग था। विदेशों के राजदूत जैसे आष्ठिओकस रौसोमी, आण्टिओनस, मगस, अलेजेण्डर मौर्यों के दरबार में आये थे। राजदूत तीन प्रकार के थे।

(१) निसृष्टार्थ—इन्हें पूरा अधिकार मिला था।
(२) परिमितार्थ—में दिये हुये आदेश के बाहर नहीं जा सकते थे।
(३) शासन हर—ये विशेष कार्य के लिए ही भेजे जाते थे।

राजस्व विभाग

यह विभाग समाहर्ता के अधीन था। यह अधिकारी मालगुजारी दुकान कर, वसूलकरता था। जंगल तथा खानों से प्राप्त आय की देखभाल करता था। मौर्यकाल में आपातकालीन कर लगाने की व्यवस्था थी।

कोष विभाग

यह विभाग कोषाध्यक्ष अथवा सन्निधाता के आधीन था। इस विभाग में गोप नामक एक अधिकारी था जो गाँवों की जनसंख्या और पशुसंख्या की भी जानकारी रखता था।

वाणिज्य विभाग

यह विभाग वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करता था आवश्यक वस्तुओं का आयात निश्चित करता था, चुंगी कर निर्धारित करता था, एक्साइज, ड्यूटीलगाना बंदरगाहों का रख रखाव आदि यहीं विभाग करता था।

न्याय विभाग

राजा सर्वोच्च न्यायाधीश था। अर्थशास्त्र के अनुसार दो प्रकार के न्यायालय थे : (१ धर्मस्थानीय (२) कंटकशोधन प्रांतों, कमिश्नरियों तथा जिलों में भी अपने अपने न्यायालय थे। इनपर नियंत्रण मुख्यत- न्यायालय का रहता था। अशोक के काल में न्याय में एक रूपता लाने का प्रयास हुआ तथा राजुक अधिकारियों की वृद्धि की गयी। मृत्युदण्ड प्रचलित था। उल्लेखनीय है अहिंसा पर जोर देने वाला अशोक भी उसपर रोक नहीं लगा सका। केवल कुछ अवसरों पर तीन दिनों की रियायत अशोक ने दी थी।

धर्म विभाग

अशोक के समय पर विभाग धर्म महामात्रों के अधीन था। उसका कार्य था कि विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के बीच मेलजोल बढ़ाना धम्म की वृद्धि करना।

प्रांतीय शासन

साम्राज्य को सुचारु रूप से प्रशासन के आधीन रखने के लिए; प्रांतों में विभक्त किया गया था। इनकी प्रमुख राजधानियाँ पाटलिपुत्र, तोसाली, उज्जयिनी तक्षशिला और सुवर्णगिरी थी। प्रायः राजकुल के व्यक्तियों को प्रांतों का शासन सौंपा जाता था। इनको कुमार कहते थे। अशोक राजा बनने के पहिले उज्जयिनी तथा तक्षशिला के कुमार नियुक्त थे।

स्थानीय शासन

प्रांत मंडलों में बंटे थे। प्रत्येक मंडल में अनेक जनपद थे। जनपदों को भी 'विभिन्न द्रोण मुख' सार्वटिक तथा संग्रहण में नियुक्त किया गया था। इनको ग्राम कहा गया है। प्रशासन की सबसे छोटी इकाई गाँव थे। ग्राम का प्रधान ग्रामणी था। दस गाँवों के समूहको संग्रहण, बीस संग्रहण से एक सार्वटिक तथा दो सार्वटिक से एक द्रोण मुख तथा दो द्रोण मुखों से एक स्थानीय बनता था। संग्रहण का अधिकारी गोप

तथा स्थानीय का अधिकारी स्थानिक थी। समाहर्ता सम्पूर्ण जनपद का शासक था। समाहर्ता से ऊँचा अधिकारी महामात्र था शासन के विभिन्न पदो पर केन्द्र पुरुष अधिकारी नियुक्त करता था। पुरुष के तीन वर्ग थे—उत्तम मध्यम तथा हीन।

ग्राम प्रशासन तथा नगर प्रशासन हेतु हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं।

गुप्त शासन व्यवस्था

मौर्य साम्राज्य के बाद पुनः गुप्त शासकों ने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। गुप्तो की शासन व्यवस्था का परिचय हमें फाहियान के विवरण, लेखों, सिक्कों, मृगनाक्षस कालीदास के ग्रंथों आदि से मिलता है।

केन्द्रिय शासन

गुप्त शासन प्रणाली भी राजतंत्रात्मक थी। शासन का मुख्य स्रोत राजा था राजा को महाराजाधिराज परमेश्वर, परमभागवत, परमदैक्त, चरमभट्टारक जैसी पदवियों से सुशोभित किया गया था। गुप्त राजाओं को देवत्व प्रदान किया। अभि-लेखों तथा स्मृतियों से इसकी पुष्टि होती है। प्रयाग प्रशस्ति में समुद्रगुप्त को अचिन्त्य पुरुष तथा 'लोक धाम्नो देवस्य' कहा गया है।

राजपद आनुवंशिक था। लेकिन अभिलेखों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सुयोग्य पुत्र को ही उत्तराधिकार मिलता था।

राजा के अधिकार

राजा के हाथों में शासन विषयक सेना विषयक तथा न्यायविषयक सभी अधिकार केन्द्रित थे। राजा प्रान्तीय गवर्नरों की नियुक्ति करता था जैसा कि स्कन्द-गुप्त के जूनागढ़ लेख से ज्ञात होता है कि सौराष्ट्र के गवर्नर की नियुक्ति गुप्त राजा ने की थी।

सामंत

सामन्तवादी प्रथा का पूर्ण विकास गुप्त युग में हो गया था। सामन्त भी सम्राट, महाराजाधिराज परमभट्टारक, परमेश्वर जैसी उपाधियाँ धारण करते थे। कभी-कभी 'सामन्त चूडामणि' उपाधि भी सामन्त लोग धारण करते थे।

मंत्रिपरिषद

राजा को प्रशासन में सहायता देने के लिए मन्त्रिपरिषद थी। उदयगिरि गुहालेख से ज्ञान होता है कि मन्त्रिपद कुलागत था। वीरसेवशाब को 'अन्वय प्राप्त सचिन्य:' कहा गया है। करमदाण्डा लेख से हमें मालूम होता है कि कुमारगुप्त प्रथम का मंत्री पृथ्वीषेण का पिता शिखरस्वामिन भी चन्द्रगुप्त द्वितीय का मन्त्री रह चुका था। कभी-कभी एक मंत्री के पास कई विभाग थे। प्रयाग प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि हरिषेण एक ही साथ सन्धि विग्रहिक कुमारामात्य और महादण्डनायक था जूना-

गढ़ लेख से ज्ञात होता है कि सौराष्ट्र के गवर्नर की नियुक्ति के समय स्कन्दगुप्त ने अपनी मन्त्रिपरिषद् से गम्भीर रूप से मंत्रणा की थी।

विभाग

केन्द्रिय प्रशासन के विभागों को 'अधिकरण' कहते थे। साम्राज्य के प्रमुख पदों पर कार्य करने वाले अधिकारियों को कुमारामात्य कहते थे। प्रत्येक अधिकरण की अपनी-अपनी मुहरें थीं। इस विषय पर डॉ० किरण कुमार थपलियाल ने अपने ग्रंथ 'स्टडीज इन सील्स एण्ड सीलिंगस' में बड़ी सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की हैं। गुप्त-कालीन अभिलेखों में निम्नलिखित अधिकरणों तथा उनके पदाधिकारियों का उल्लेख मिलता है।

सैन्य विभाग

सेना का सर्वोच्च अधिकारी महासेनापति था। उसके आधीन महादण्डनायक था। साधारण सैनिक को चाट कहते थे। सेना की छोटी-छोटी टुकड़ी को चमू कहते थे। सेना को रसद तथा सामग्री का प्रबंध करने वाले अधिकारी को रणभाण्डागरिक कहते थे। वैशाली की मुहर में इसका इसका उल्लेख हुआ है। महाबलाधिकृत एक दूसरा सैनिक अधिकारी था। गुप्त अभिलेखों में महाबलाधिकृत तथा महाबलाध्यक्ष का जिक्र आया है।

परराष्ट्र विभाग

महासन्धि विग्रहिक इस विभाग का अधिकारी था।

राजस्व विभाग

राज्य की प्रमुख आमदनी भूमिकर से होती थी। भूमिकर संग्रह के लिए ध्रुवादिकरण था। भूमि सम्बन्धी लेखों का रख रखाव पुस्तपाल, महाक्षपटलिक तथा करणिक करते थे। भूमि की नाप जोख करने वाले अधिकारी को प्रमात तथा भूमि सीमा निर्धारित करने वाले को सीमाकर कहते थे। न्यायाधिकरण अधिकारी भूमि सम्बन्धी मामलों को निबटाता था। अभिलेखों में कर, प्रणय, विष्टि, चर्मांगारक, चरासन, लव क्लिन्स आदि करों का वर्णन हुआ है।

न्यायविभाग

राजा न्याय का सर्वश्रेष्ठ अधिकारी था। न्यायालय चार थे—राजा का न्यायालय, पूग, श्रेणी तथा कुल, गुप्त अभिलेखों में दण्डनायक; महादंडनायक, सर्व; दंडनायक, महासर्वदंडनायक आदि मिलते हैं। ये सम्भवतः न्यायपदाधिकारी ही थे। शारीरिक दण्ड देने वाले अधिकारी को दण्डिक कहते थे।

आरक्षी विभाग

आरक्षी विभाग को दण्डपाशाधिकरण कहते थे। इसके प्रधान को दण्डपाशाधिकरणिक या दण्डपाशिक कहते थे।

धर्म विभाग

धर्म विभाग का मुख्य अधिकारी पुरोधा या पण्डित था। इसके सहायक को विनयस्थितिस्थापक कहते थे। दानाध्यक्ष को 'अग्रहारिक' कहते थे।

प्रांतीय प्रशासन

राज्य को अभिलेखों में राष्ट्र, देश, पृथिवी, और अवनि कहा गया है। राज्य प्रांतों में सुविधा के लिए बँटा था। इन प्रांतों को भुक्ति भी कहते थे। भुक्ति के अधीन भोग, विषय, बीथी, मण्डल, पेठक, पार्श्व, ग्राम, पत्त और अग्रहार थे। अभिलेखों में पुण्ड्रवर्धन भुक्ति, वर्धमान भुक्ति, तीर भुक्ति आदि का उल्लेख मिलता है।

प्रांतपति को अभिलेखों में उपरिकमहाराज कहा गया है। कुछ अभिलेखों में इसे राष्ट्रीय, भोगिक, भोगपति, गोप्ता भी कहा गया है। उपरिक महाराज की नियुक्ति राजा स्वयं करता था। इनकी सहायता के लिए 'युवराजकुमारामात्य' थी।

जिला प्रशासन

'विषयपति' जिले का अधिकारी था। वह प्रांतीय शासक के प्रति उत्तरदायी था। इसका मुख्यालय 'अधिष्ठान' में था जहां अधिकरण या कार्यालय था। इसकी सहायता के लिए स्थानीय प्रतिनिधियों की एक समिति थी। दामोदरपुर लेख से इस पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है लेख से ज्ञात होता है कि चार सदस्यों की एक परामर्शसमिति विषय में कार्य करती थी। नगरश्रेष्ठित, सार्थवाह, प्रथम कुलिक और प्रथमकायस्थ क्रमशः नगर, व्यापार, उद्योग, और शासन का प्रतिनिधित्व करते थे।

जिले का मुख्य व्यक्ति महत्तर था। इसकी नियुक्ति विषयपति करता था। विषयपति के अधीन अनेक कर्मचारी थे जो राजस्व एकत्रित करते थे। इन कर्मचारियों के नाम युक्त, आयुक्त, नियुक्त आदि थे। 'पुस्तपाल' भी विषयों में थे। भूमि की क्रय विक्रय की जानकारी पुस्तपाल विषयपति को देता था।

स्थानीय शासन

स्थानीय शासन से सम्बन्धित नगर तथा ग्राम शासन पद्धति पर हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं।

चोल प्रशासन

दक्षिण भारत की शासन पद्धति में चोल प्रशासन अपना विशेष महत्व रखता है।

राजा

राज्य का सर्वोच्च अधिकारी राजा था। कार्यकारिणी, व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका सम्बन्धी समस्त अधिकार राजा के ही हाथ में केन्द्रित थे। राजा को बड़ी-बड़ी पदवियां दी गयी थी जैसे—चक्रवर्तीगल। राजा की मृत्यु के बाद उसकी स्मृति बनाये रखने के लिये उसकी मूर्तियाँ पूजी जाती थीं।

अधिकारी

राजा की सहायता के लिये अधिकारी थे जैसे ओलेनायकम् (प्रधान सचिव); पेरुन्दरम् (प्रधान कर्मचारी) तथा विडैयाधिकारिन् (कार्य प्रेषक किरानी)। पुरोहित का भी उल्लेख मिलता है। राजा के नीजी मंत्री राजा की आज्ञाओं को (जिरुवाक्य-केल्वी) लिखते थे। बाद में उन्हें रजिस्टर पर दर्ज करके उनको सुरक्षित रखा जाता था।

प्रांतीय शासन

अभिलेखों में चोल राज्य को राष्ट्रम अथवा राज्यम कहते है। राष्ट्र कई प्रांतों में विभक्त था जिन्हें मण्डलम कहा जाता था। मण्डलम की कुल संख्या आठ अथवा नौ ज्ञात होती है। मण्डलम् कोट्टम में विभक्त थे। नाडु (जिला) कोट्टम का उपविभाग था। उत्तर भारत की तरह चोल राज्य की सबसे छोटी इकाई ग्राम थी।

सामंत राजाओं के भी राज्य थे जो केन्द्र को कर देते थे।

भूमि व्यवस्था

भूमि की नाप आदि रखने के लिये भी एक विभाग था। यह सभी खेतों का रिकार्ड रखता था। कुलोतुंग प्रथम ने भूमि की माप के लिये चरणमय निश्चित किये थे।

राज्य की आय के स्रोत

भूराजस्व राज्य की आय का मुख्य स्रोत था। यह उपज का १/६ भाग था। राज्य लगान वसूलने में सुविधाजनक व्यवस्था रखता था। कर की वसूली नगद या द्रव्य रुप में होती थी। व्यवसायों पर भी कर लगाये जाते थे।

राज्य की आय को एक अन्य स्रोत सामंतों द्वारा दिया गया कर था। अभिलेखों में निम्न करमिलते हैं : कर, करघा (तरिइरिय), कोल्हू (शेक्ककेरिया), व्यापार सेट्टिरयी), सुनारी (तत्तारपाट्टम्), पशु, ताल, नदी (ओलक्कमीरपाट्टम्) नमक उप्पायम), चुंगी (वलिआयम्), बाट (इडैवरि), बाजार (अंगाडिपाट्टम्) आदि। राजकीय आय कल्याणकारी कार्यों पर खर्च की जाती थी।

सैन्य व्यवस्था

चोल शासकों के पास नैसेना तथा स्थल सेना दोनों थीं। स्थल सेना के प्रमुख अंग—पदाति (वडपरं कैक्कोलर) अश्वारोही (कुदिरैवेश्वर), धनुर्धर (विल्लिगद्), हाथी (ओनयाट् कलकुंजिर मल्लर) तथा जंगल में युद्ध करने वाले सैनिक—थे। छावनियों का काडगम् कहते थे। खेतिहर, पशुपालन तथा क्षत्रिय वर्गों से सैनिकों की भर्ती होती थी।

स्थानीय स्वशासन व्यवस्था

चोलों की स्थानीय स्वशासन व्यवस्था सबसे महत्वपूर्ण थी। स्थानीय शासन ग्राम सभाओं तथा औद्योगिक एवं व्यापारिक श्रेणियों के माध्यम से संचालित होता था।'

ग्राम प्रशासन तथा उसके महत्व की विवेचना हम ऊपर कर चुके हैं।



द्वितीय खण्ड

प्राचीन भारतीय वैधानिक संस्थाएँ

अध्याय : १२

हिन्दू विधि के स्रोत

'प्रारम्भिक समाज में विधि का मूल आचार एवं नैसर्गिक नियमों से प्रारम्भ होता है। भारतीयों के अनुसार वह युग 'ऋत'[1] एवं सत्य का है।'[1] प्रारम्भिक वैदिक काल में विधि ऋत[2] के रूप में ही थी। उसकी शक्ति सर्वोच्च थी। ऋत के आधार पर समाज को संगठित करने का प्रयास हुआ। ब्राह्मण ग्रन्थों में ऋत् धर्म के रूप में निरुपित हुआ है। उल्लेखनीय है कि इसी बीच समाज द्वारा विधि के पालन हेतु राज्य का विकास हुआ। जब राज्य के द्वारा विधि निर्वेचित हुई तो विधि का प्रयोग राज्य विधि के रूप में हुआ। इस विकासावस्था में भी विधि का स्थान राज्य से सर्वोपरि रहा। इसके द्वारा समाज का कल्याण हुआ। धीरे-धीरे सामाजिक विधान परिणामस्वरूप विधि का स्वरूप परिवर्तित होने लगा। विभिन्न जातियों के समन्वय के फलस्वरूप विधि के विभिन्न रूपों को एक साँचे में ढालने के लिए यह धर्म के रूप में बदल गया तथा धर्म विधि का पर्यायवाची बन गया। पाश्चात्य विचारकों की दृष्टि में विधि अधिकारों या उत्तरदायित्वों का वह समूह है जो प्रथा पर जबरदस्ती लादा गया हो।

परन्तु प्राचीन भारत में विधि प्रजा पर कभी भी थोपी नहीं गयी। विधि प्राचीन काल में एक दैवी संस्था मानी गयी जिसका पालन करना प्रजा का कर्तव्य था। विधि का आधार कल्याण है कल्याण का रूप व्यापक है। धर्मसूत्रों का कल्याण धर्म का रूप धारण कर लेता है।... ...भारतीय विधि का आधार मूलतः कल्याण है लेकिन उससे उपयोगिता दूर नहीं की गयी। इसलिए उसमें लौकिक और पार-लौकिक दोनों अंशों का समावेश होता है।'

लोके प्रेत्य वा विहितो धर्मः।
वशिष्ठसंहिता, १.-२

यतोऽभ्यु दनिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः।
कणाद, १.२

... ...

१. हरिहरनाथ त्रिपाठी, प्राचीन भारत में राज्य और न्याय पालिका, पृ० ६३

२. ब्राउन के अनुसार 'प्रत्येक वस्तु व्यवस्थित ढंग में थी। नियंत्रण के नियम थे।

प्रत्येक देवता अपने निश्चित कार्य करते थे। इस प्रकार की प्रत्येक व्यवस्था एवं नियम ही ऋत है।' W. N. Brown, mythology of India। p. 284.

श्रुति एवं स्मृति का सापेक्षिक महत्व—धर्म को केवल श्रुतियों तथा स्मृतियों के समन्वित अध्ययन से ही जाना जा सकता है। क्योंकि श्रुतिया तथा स्मृतियां ही अन्य प्राचीन धर्मशास्त्रों के वर्णन का स्रोत रही है। इसी लिये श्रुतियों तथा स्मृतियों को प्राचीन धर्मशास्त्र का स्रोत माना जाता है।

(i) वैधानिक उत्स (ii) उपादान उत्स। उपादान उत्स का तात्पर्य केवल नियमों के स्वरूप से है जबकि वैधानिक उत्स उसे कहते हैं जिसे केवल जाना जा सकता है।

धर्म को स्रोत के रूप में वेद तथा स्मृति—विधि या धर्म के स्रोत में वेद का सर्वप्रथम स्थान है। वेद का अर्थ ज्ञान से है। मीमांसको ने ओपौरुषेय कहा है औंपरुषेय कोसल्य को स्थिर करने के लिये वेद को स्वतः प्रमाण माना गया।

गौतम धर्म सूत्र में यह बताया गया है कि वेद धर्म के मूल है एव वेद के जानने वालों का आधार एवं आदर्श धर्म के स्रोत कहे जा सकते हैं।

"वेदों धर्म मूलम् न द्विदांश्च स्मृतिशीले"

इसी तरह आपस्तम्ब ने यह बताया कि जानने वालों का आचार, आदर्श तथा वेद विधि के स्रोत हैं।

"धर्मज्ञ समय: प्रमाणय वेदाश्च"

मनुस्मृनि में यह बतलाया गया है कि श्रुति यानी अजिल वेद तथा उनके जानने वालों का आचार एवं आदर्श राजनों का आचार एवं आत्म सन्तुष्टि धर्म के प्रमुख स्रोत कहे जा सकते हैं।

'वेदो अजिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले चतत हिदाम।
आचारश्चैव साधूनामात्मानम् सन्तुष्टि रेवन्च॥"

याज्ञवल्क्य स्मृति में यह बताया गया है कि श्रुति स्मृति सदाचार एवं आत्म सन्तुष्टि धर्म या विधि के प्रमुख स्रोत कहे जा सकते हैं।

'श्रुतिः स्मृति, सदाचारः स्वस्थ च प्रियमात्मन:'

इस प्रकार गोतम, आयस्तम्ब, अनुतया याज्ञवल्क्य स्मृतियों के समन्वय अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि श्रुति स्मृति सदाचार एवं आत्मसन्तुष्टि धर्म के प्रमुख स्रोत कहें जा सकते हैं। वास्तव में विभिन्न कालों में विभिन्न प्रकार की परम्परायें ऐवं मान्यतायें प्रचलित रही है एवं सामान्य रूप से श्रुतियों एवं स्मृतियों में तत्कालीव परम्पराओं तथा मान्यताओं का समन्वय पाया जाता है। इसीलिये यही मान्यतायें एवं समन्वय धर्म के आधार बने।

वेद :—वेद के अर्थ के विषय में मनुस्मृति में टीकाकार मित्र मिश्र ने लिखा है कि मंत्र तथा ब्राह्मणों को वेद कहा गया है। यहाँ पर ब्राह्मण का तात्पर्य मन्त्र जानने वाले से है। उन्होंने लिखा है—

'मन्त्र ब्राह्मणोर्वेद नामधेयम्' ।

वेदों के विषय में यह बताया जाता है कि कोई भी इसका रचइता नहीं था। इसलिये ऋषियों को मंत्र द्रष्टा कहा गया—

"ऋषयो मन्त्र द्रष्टारः।"

वेदों के विषय में कहा गया है कि वेदों के कर्ता नहीं है अतः वे स्वयं प्रमाणित हैं। उनको प्रमाणित करने के लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं पड़ती। मनु ने जो अखिल वेद कहा है यहाँ पर उसका तात्पर्य वेद के सम्पूर्ण विभागों से है। मनु ने वेद को ५ भागों में बांटा है—

(i) मन्त्र (ii) नामधेय (iii) विधि (iv) निषेध (v) अर्थवाद।

विधि का तात्पर्य आचारों से है। जो वेद निहित बताये गये हैं जैसे वेदों का उल्लेख—धर्मः च, सत्यंवद, ये शब्द वेद के अन्तरगत आते है। तथा जिन आचारों को वेद में निषेध किया गया है उसे निषेध कहते है। वेद मन्त्रों के सग्रह है। वेद में नामधेय का तात्पर्य ऋषियों के नाम से है। तथा जब वेद में किसी काम को करने या न करने को लिखा हो उसे अर्थवाद कहते है। जैसे अथर्ववेद में एक स्थान पर बताया गया है कि कभी भी यज्ञ में चाँदी का प्रयोग नहीं करना चाहिये क्योंकि चाँदी रुद्र के अश्रु से उत्पन्न होता है और रुद्र के अश्रु उस समय निकलते है जब वह क्रोध करता है। इसलिते यज्ञ में रजत का प्रयोग हानिकारक होता हैं। यदि वेद के इन प्रयोगों में कोई संघर्ष होता है या उनके तुलनात्मक महत्व पर कभी प्रकाश डालना हो तो विधि सबसे अधिक प्रभावशाली है। विधि भी तीन तरह भी होती है—

(i) अपूर्व (ii) आप्त (iii) परिसंख्या।

अपूर्व का तात्पर्य ऐसे नियमों या विधि से है जिसका कोई दृष्टि काल कारण न हो जिससे यह बताया जाय कि अश्वमेध यज्ञ करने से स्वर्ण की प्राप्ति होती है। इसी तरह आप्त के लिये यह माना जाता है कि जिसका कोई दृष्टिगति कारण न हो।

परिसंख्या वह विधि है जो स्वयं निषेध मूलक हो जैसे यह कहा जाय—पाच्य पञ्चन खाय भक्ष्यः अर्थात ५–५ नाखूनों वाले जानवरों को नहीं ग्रहण किया जा सकता है। इसका दूसरा अर्थ है कि ५–५ नाखूनों वाले जानवरों के और कोई जानवर नहीं खावा चाहिये।

इस प्रकार के रूप में वेद का बड़ा ही महत्व है और साथ ही साथ उपादान तत्व के रूप में उसका महत्व कम नहीं है जिसे ऋग्वेद में एक स्थल पर कहा गया

है कि—समाजू रिवा जिसरेंसचा। यह समाजू का तात्पर्य ऐसे अविवाहित कन्या से है जो कि पूर्ण वयस्क हो और अपने पिता के घर को इसी मेल इसी मन्त्र के आधार पर स्मृतियों में यह बतलाया गया है कि ऐसी कन्या जिसका कोई भाई न हो उसके साथ विवाह नहीं करना चाहिये क्योंकि अभागू के विषय में यह कहना है कि उस कन्या का प्रथम पुत्र उस कन्या के पिता के पास जाता है। ऋग्वेद में ऐसे उदाहरण पाये गये हैं जिनसे पता चलता है कि अविवाहित कन्या अपने पिता के घर रहती थी।

इस प्रकार वैधानिक तथा उपादान दोनों ही स्रोतों के रूप में वेद अत्यन्त महत्वपूर्ण है। और बाद में प्रत्येक का महत्व यहाँ तक बढ़ गया कि लोग अपनी बात प्रमाणित करने के लिये न कही गयी बात को भी वेद विदित करने लगे।

स्मृति—मनु के अनुसार धर्मशास्त्र ही स्मृति कहे जा सकते हैं।

धर्म शास्त्र तु वे स्मृतिः।

मनुस्मृति के एक टीकाकार मेधातिथि वेद के जानने वालों के आचार एवं उनके आदर्शों का स्मरण स्मृति मानते हैं।

वेदों को मानने वालों को यह करना चाहिये यह नहीं करना चाहिये यही स्मृति है। स्मृति साहित्य में कुछ विद्वान तो गीता एवं महाभारत को भी सम्मिलित करते हैं। परन्तु समन्वय रूप से मनु, गौतम, बौधायन, याज्ञवल्क्य, नारद, परासर, आदि प्रमुख स्मृतिकार रहे हैं। गौतम तथा बौधायन का यह कहना है कि किसी भी नये आचार या किसी भी नयी बात को स्मृतियाँ समाहित नहीं करती वरन् तत्कालीन सामाजिक आचार स्मृतियों में निबन्ध है। इसलिये उन्होंने कहा है—

'उच्चावच भत् जनपद धर्मा। तत समानः वूयः।'

अर्थात स्मृतियों में केवल आचारों का ही सम्बन्ध होता है। किसी भी स्मृति के साथ किसी भी ऋषि का नाम सम्बद्ध करना उसकी प्रमाणिकता को सिद्ध करता है तथा उसे दिव्य, स्वरूप प्रदान करता है। इन स्मृतियों की संख्या इतनी अधिक है कि इनके समक्ष अन्य साहित्य काव्य-सा प्रतीत होते हैं। १७वीं शताब्दी तक १३१ स्मृतियों का उल्लेख प्राप्त हुआ है। याज्ञवल्क्य स्मृति में ही याज्ञवल्क्य को ही १८ स्मृतियों का प्रयोग कहा गया है। स्मृतियों के इस बाहुल्य को देखकर यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि उनमें विरोध अवश्यम्भावी है। वास्तव में कुछ ऐसी भी स्मृतियाँ है जिनका केवल नाम मात्र ही ज्ञात है इसलिये स्मृति साहित्य को २० भागों में बाँटा गया है।

(i) बृहत या वृद्धि स्मृति—जिसमें तत्कालीन परम्पराओं एवं आदर्शों का उल्लेख हुआ है।

(ii) परवर्ती स्मृति—जो शैव या वैष्णव प्रभाव से प्रभावित हो।

परवर्ती तथा वृद्ध स्मृतियों में यदि कभी विरोध हो तो यह कहकर समस्या का समाधान किया जा सकता है कि अमुक आचार का उल्लेख उस स्मृति में हुआ है जो आज प्राप्त नहीं है। स्मृतियों के उस बाहुल्य के कारण उनमें पारस्परिक विरोध भी संम्भाव्य है और यदि स्मृति में पारस्परिक विरोध हो तो मनुस्मृति को सबसे अधिक प्रमाणिक समझना चाहिये। मनुस्मृति के बारे में यह बतलाया गया है कि वेद के अर्थों का विशिष्ठीकरण करने के कारण मनुस्मृति सबसे अधिक महत्वपूर्ण है।

'वेदार्थो प्रवृं हितात् प्राधान्यं हि मनुस्मृति'

इसी तरह यदि एक ही सिद्धान्त को लेकर विभिन्न स्मृतियाँ विभिन्न पक्ष प्रतिपादित करती है तो जो मत अधिकांश स्मृतियों द्वारा अनुमोदित होता है उसी को प्रमाणिक माना जा सकता है। गोथिल स्मृति में यह बताया गया है कि—

'विरोधे यत्न वाक्यानां प्रामाण्यं तत् भूयसाम्'

इस प्रकार स्मृतियों के बाहुल्य के कारण एक दूसरे से वे विरोधागामी रहती है। स्मृति स्मृतियों की इस भिन्नता का जो प्रमुख कारण है उसके विषय में आधुनिक विद्वानों की यह धारणा है कि स्मृतियों की रचना विभिन्न स्थानों पर हुयी होगी और उस स्थानीय विशेषताओं के कारण स्मृतियों में विभिन्नता स्वाभाविकतः आ गयी। दूसरे स्मृतियाँ एक ही काल की रचना नहीं है। विभिन्न समय की परम्परायें उन्हें प्रभावित करती रही। इस प्रकार बोधायन स्मृति में यह बतलाया गया है कि कृतयुग में मनुस्मृति त्रेता में गौतम स्मृति, द्वापर में सरिता तथा कलयुग में परासर स्मृति अधिक मान्य होनी चाहिये इस प्रकार देश एवं काल के अनुसार स्मृतियों में विभिन्नतायें पायी जाती है। इसके बावजूद स्मृतियाँ धर्म के श्रोत के रूप में अधिक महत्वपूर्ण हैं।

श्रुति एवं स्मृति का धर्म के श्रोत के रूप में तुलनात्मक महत्व—श्रुति एवं स्मृति सामान्यतः दोनों ही धर्म के श्रोत हैं। किन्तु वेद श्रोत को अधिक महत्व दिया गया है। क्योंकि धर्म को वेदगम्य अर्थात केवल वेद के द्वारा जानने योग्य कहा गया है। इसी तरह मीमांसकों ने यह भी बताया है कि धर्म वह करणीय कार्य है जो केवल वेद के द्वारा ही जाना जा सकता है। वेद की महत्ता को प्रमाणित करने वाले ऋषियों ने यह भी बताया है कि स्मृतियाँ वैदिक साहित्य का ही अनुगमन करती हैं। इसलिये स्मृतियों को धर्म के श्रोत के रूप में दूसरा स्थान देना चाहिये। रघुवंश में कालीदास ने कहा है कि नन्दिनी का अनुगमन उसी प्रकार किया गया जिस प्रकार स्मृतियाँ श्रुतियों का अनुगमन करती है।

'श्रुतेरिवार्थं स्मृति स्वगच्छत' इसमें स्मृतियों का द्वितीय स्थान सहज ही उचित प्रतीत होता है। परन्तु यह परिस्थिति अधिक दिनों तक न रह सकी। वैदिक भाषा में धीरे-धीरे क्लिष्ट प्रतीत होने लगी और वैदिक समाज भी परिवर्तित हो गया। इसलिये श्रुति के महत्व में यह बताया गया है कि देश एवं काल के अनुसार धम कभी अधर्म तथा अधर्म कभी धर्म हो जात' है।

इस प्रकार स्मृतियों का महत्व श्रुतियों की अपेक्षा अधिक हो गया। सारांशतः इस सम्बन्ध में तीन मत लिखे जा सकते हैं—

(i) प्रथम मत के अनुसार श्रुतियों स्मृतियों से अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि वेद के सभी मंत्र एवं शाखायें आज उपलब्ध नहीं है। मत लिये स्मृति साहित्य में वर्णित यदि कोई बात उपलब्ध स्मृतियों में नहीं पाते हैं तो यह कहा जा सकता है कि अनुपलब्ध या लुप्त शाखा में इसका उल्लेख अवश्य हुआ होगा। इसलिये उपलब्ध एवं अनुपलब्ध समग्र रुपेण श्रुति साहित्य स्मृतियों के आगे-२ दौड़ती है। अर्थात स्मृतियों में श्रुतियों का एक दूसरा रुप देखा जा सकता है।

(ii) वृहस्पति स्मृति के अनुसार श्रुति एवं स्मृति धर्म के दो चक्र व्यूह हैं। इनमें से किसी एक को महत्वपूर्ण कहना वास्तव में एकांकी होगा। वृहस्पति स्मृति के अनुसार श्रुति तथा स्मृति दोनों समान रूप से धर्म के श्रोत के रुप में महत्वपूर्ण हैं और दोनों के नियम समाज के लिये परिपाल्य है। यदि कोई इनमें विरोध हो तो अपनी इच्छानुसार किसी का भी पालन किया जा सकता है।

(iii) तृतीय मनु के अनुसार स्मृतियों श्रुतियों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हैं। जैसे ऋग्वेद में ब्रह्मचारी के लिये संगीत को एक आवश्यक अंश माना गया है— 'काम तु गति गायते। किंतु परासर स्मृति में एक विद्यार्थी या ब्रह्मचारी के लिये निषिद्ध किया गया है। और यह अधिक प्रमाणिक माना जाता है। इस तरह वैदिक साहित्य गोमारा को उपर्युक्त आहार माना जाता था किंतु स्मृति साहित्य में इसका निष्करण किया गया हैं और आजकल सबसे अधिक यही माना गया है। इस प्रकार समय सापेक्ष की दृष्टि से स्मृतियों का महत्व श्रुतियों की अपेक्षा अधिक बढ़ गया। कुछ विद्वानों ने श्रुतियों स्मृतियों के महत्व में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया है जिनके अनुसार वैधानिक श्रोत के रुप में श्रुतियों अधिक महत्वपूर्ण किन्तु उत्पादन श्रोत के रुप में स्मृतियां इससे भी महत्व पूर्ण है।

सदाचार

धर्म के श्रोत के रुप में आचार बड़े ही महत्वपूर्ण है। इसलिये महाभारत में यह कहा गया है—

"आचारो प्रभव: धर्मः" अर्थात धर्म आचार से उत्पन्न होता है।

इसी तरह आपस्तम्ब ने भी आधार को ही सबसे अधिक प्रमाणिक माना है–'धर्मज्ञ समयः प्रमाणम्' वास्तव में सदाचार शब्द की परिभाषा के लिये महाभारत में कठिन प्रयास प्रतीत होता है। किन्तु इसके बावजूद भी इसे अलक्षण कहा गया है। इसमें यह बताया गया है कि सज्जनों का जो आचार है वही सदाचार है और जो अच्छे आचार करते है वही सज्जन हैं। किन्तु यहाँ पर सज्जन की कोई व्याख्या नही की गयी है। इस तरह एक दूसरे पर आधारित इस परिभाषा को देखकर महा भारत में इसे अपरिभाषिक कहा गया है—

"सदाचारों सतों धर्मः सत्तुः तु सदाचार लक्षण.'।
साध्या साध्यां कथं शाक्यं आचारे ही अलक्षणः''

किन्तु बाद के धर्म शास्त्र कारों ने महाभारत कि इस परिभाषा को और भी विस्तृत करने का प्रयास किया है। बौधायन गौतम तथा आपस्तम्ब धर्म शास्त्रकारों ने शिष्ट पुरुषों का आचार कहा है। और शिष्ट पुरुषों के लक्षण भी इन विद्वानों ने बताया है—

'शिष्टां वियत मत्सराः अलोलुपाः ।'

अर्थात शिष्ट पुरुष मत्सर (काम, क्रोध) से विरत होते है। आचार के सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि प्रारम्भ में आचारों की संख्या वियुक्त रही होगी। किन्तु श्रुतियों तथा स्मृतियों की संरचना से इनका आकार अवश्य ही संक्षिप्त हुआ होगा। लेकिन कुछ ऐसे भी अविशिष्ट अवश्य रहे होगे जिनका उल्लेख श्रुतियों तथा स्मृतियों में भी न हुआ हो। इस प्रकार के आचार को कभी भी ठुकराया नहीं जा सकता। इस लिये आचार को साधारणतः तीन भागों में बाँटा गया है, (i) देशाचार (ii) अत्याचार (iii) तुलाचार। देशाचार का यह तात्पर्य है कि उनके क्षेत्रीय परम्परायें अपना विशेष महत्व रखती है और साधारणतः विभिन्न स्थानों के आचारों में विभिन्नता अवश्य दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार के आचार को गौतम धर्म सूत्र में उत्तमा पथ एवं दक्षिण पथ में ५ विभिन्नताओं का वर्णन किया गया है। जिसका समर्थन बौधायन सूत्र में भी हुआ हैं—

(i) उत्तरा पथ में ऊन बेचना धर्म संगत माना गया है परन्तु दक्षिण पथ में इसे धर्म के विपरीत कहा गया है।

(ii) उत्तरा पक्ष में समुद्र पात्र धर्मानुकूल है किन्तु दक्षिण पथ में इसे अधार्मिक कृत्य कहा गया है।

(iii) उत्तरा पथ का ब्राह्मण सुरा पान कर सकता है परन्तु दक्षिण पथ के ब्राह्मण के लिये यह सर्वं अग्राह्य है।

(iv) उत्तरापथ में पति पत्नी के साथ भोजन कर सकता है परन्तु दक्षिण पथ में यह सर्वथा वर्जित है।

(v) उत्तरापथ में मामा या बुआ की लड़की के साथ विवाह करना सर्वथा अधार्मिक है किन्तु दक्षिण पथ में यह मान्य है।

अत्याचार का तात्पर्य विभिन्न जातियों में प्रचलित विभिन्न आचारों से है: जैसे ब्राह्मण में ब्रम्ह विवाह, क्षत्रियों में राक्षस विवाह अधिक प्रसस्त माना गया है। इसी प्रकार तुलाचार का मतलब विभिन्न परिवारों में फैलती विभिन्न परम्पराओं से है। जैसे प्राचीन काल में शिक्षा प्रवर के आचार पर बाँधी जाती थी। यदि तीन प्रवर का व्यक्ति है तो शिक्षा में तीन गाँठ देगा। इसी प्रकार ५ प्रवर का व्यक्ति शिक्षा में ५ गाँठ देगा।

इस प्रकार स्थानीय पारिवारिक तथा जातीय परम्पराओं का धर्म में विशेष महत्व है। आचार के विषय में युग धर्म का विशेष प्रभाव पड़ता है क्योंकि युग धर्म के अनुसार आचार सदैव परिवर्तित हुआ करते है। जिस प्रकार का युग होता है। उसी प्रकार का आचार भी प्रचलित होता है। उस समय के लिये वही आचार सर्वाधिक प्रमाणिक माने जाते हैं।

श्रुति स्मृति तथा आचार के संघर्ष के सम्बन्ध में कौन अधिक महत्वपूर्ण है यह भी एक विवादास्पद प्रश्न है। साधारणतह यह माना जाता है कि श्रुति सम्मत आचार ही सदैव प्रमाणिक होते है और इस प्रकार के आचार को आमतौर से विरुद्ध कहा गया है। अर्थात जो आचार श्रुति एवं स्मृति के अनुकूल होंगे वही आचार होंगे लेकिन जो प्रतिकूल होंगे वो भले ही प्रतिष्ठित व्यक्ति द्वारा मान्य हो उसे समाज में ·मान्य माना जायेगा। जिस प्रकार परशुराम के पारस्परिक आदर्शों के विपरीत मातृ हत्या करने के कारण इसे कभी भी आदर्श नहीं कहा जा सकता '

वास्तव में श्रुति तथा स्मृति ही आचार संग्रह है। इसलिये श्रुति, स्मृति एवं आचार तीनों में जो संघर्ष होगा वह केवल उपरी संघर्ष होगा। किन्तु वास्तविकता को गहराई में प्रवेश करने पर तीनों एक ही प्रतीक होंगे। और आचार उससे अधिक महत्वपूर्ण प्रतीत होगा। क्योंकि श्रुति स्मृति आचार से पृथक नहीं है। देश एवं काल के अनुसार स्मृतियाँ तथा श्रुतियों का महत्व जो परिवर्तित हुआ उसी संदर्भ में अतिरिक्त आचार भी श्रुति तथा स्मृतियों से अधिक महत्व पूर्ण प्रतीत होने लगे। यदि कोई आचार समाज में प्रचलित एवं मान्य है। श्रुतियो एवं स्मृतियों में भले ही वर्णित न हो विधि के श्रुति के रूप में वह आचार अधिक प्रमाणिक होगा। इसलिए मनु आदि स्मृतिकारों ने प्रचलित स्थानीय परम्पराओं या नियमों का विशेष ध्यान

दिया है। ग्यारहवीं तथा बारहवीं शताब्दी के लेखक असहाय ने यह कहा है कि जिस स्थान या देश में जो आचार परम्परागत चला आ रहा उसे शास्त्र वंश कभी भी उलंघित नहीं किया जा सकता—

यस्मित देशे परे आचार: पारम्पर्य क्रमागत: ।
तं शास्त्रवक्तान्नेव लंघनीय कदाचन् ।।

वास्तव में श्रुतियों तथा स्मृतियों के महत्व में जो न्यूनता दिखलाई दे रही है उसका सबसे महत्व पूर्ण कारण क्षेत्रीय संस्कृत का विकास ही रहा है। गुप्त वंश के पतन के पश्चात हर्ष एवं पुलकेसिन क शासन काल में यद्यपि किंचित राजनैतिक एकता कायम रही। किन्तु उसके बाद कोई ऐसा राज वंश नहीं हुआ जो सम्पूर्ण भारत पर एकाधिकार स्थापित कर सके विभिन्न अंगों में विभिन्न राज वंशों का उदय हुआ। इसलिये उनकी परम्परायें भी भिन्न रही। श्रुतियों तथा स्मृतियों में जिस सार्वभौम आचार का उल्लेख है वह बाद में जब क्षेत्रीय संस्कृत का विकास हुआ तो महत्वपूर्ण प्रतीत होने लगा और काल क्रम के अनुसार आयोजित आचार अधिक प्रचलित हुये।

आत्म-सन्तुष्टि

साधारण रूप से यदि किसी वस्तु के विषय में संदेह हो तो उस वस्तु के विषय में या उस वस्तु के ऊपर स्वस्थ मस्तिष्क से विचार करने पर आत्मा जिस रूप में स्वीकार करे उसी को प्रमाणित मानना चाहिये ? आत्म सन्तोष के लिये जो भी इच्छायें की जाय सबको धर्म का श्रोत नहीं कह सकते। वास्तव में तुल्य कोटिक विचार मस्तिष्क में उत्पन्न हो और उसमें से किसी एक का निर्णय करना हो तो जिसके लिये आत्मा पुकार कर कहे उसी को प्रमाणित मानना चाहिये। इसलिये कालीदास ने अभिज्ञान शाकुन्तलम में कहा है कि सन्देहास्पद वस्तुओं में सज्जनों के अन्त:करण की प्रवित्तियाँ अधिक प्रमाणित होती है—

सताहो सन्देह पदेशु वस्तषु प्रमाणमन्त: करण प्रवृत्तान।

धर्म के उपादन उत्स या गौण श्रोत—इनमें मुख्य रूप से पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र तथा वेद को धर्म का मुख्य श्रोत कहा गया है—

पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्रङ्ग मिश्रोता ।
वेदा स्थाना निधानां धर्मस्य च चतुर्दश ।।

पुराणों का तात्पर्य साधारणत: प्राचीन से लिया गया है और पुराण शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग अथर्ववेद में हुआ है। उसके बाद उपनिषद में पुराण शब्द आया है। किन्तु वास्तव में पुराण का तात्पर्य पुराण साहित्य से है। जिसकी रचना कलयुग तक होती रही।

पुराणों के कुल ५ लक्षण बतलाये गये हैं—

सर्गश्च, प्रतिसर्गश्च वंशस्य मवन्तराणि ।
वंशालु चरितश्चैव पुराणं पंच लक्षणम् ।।

सर्ग से तात्पर्य प्रथम सृष्टि से है और प्रति सर्ग परवर्ती स्मृतियों की ओर संकेत करते हैं। वंश का तात्पर्य राजवंशों की स्थिति से है। मनुवन्तर का तात्पर्य

मनु के युग से है और रित का अभिप्राय साधारण चरित से है। इस प्रकार पुराण अपने विभिन्न लक्षणों के साथ धर्म के गौड़ श्रोत के रूप में अपना स्थान रखते हैं। पुराणों में कहीं-कहीं पर विद्या, वृत्त, दान इत्यादि का भी उल्लेख मिलता है और परवर्ती पुराण वैष्य, शैव इत्यादि सम्प्रदायों का भी उल्लेख करतें हैं इन्हीं पुराणों के बाद में मन्त्रों की रचना हुयी जिससे धर्म के स्वरूप में कहीं परिवर्तन हुआ। क्षेमेन्द्र का 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि', मित्र का 'वीर मित्रोदय' इस निबन्ध ग्रन्थों के कारण धर्म का स्वरूप कभी विस्तृत हुआ और कभी संकुचित और उनके महत्व में न्यूनता भी नवीन ग्रन्थों के कारण आने लगी।

न्याय

न्याय का तात्पर्य सामान्य रूप से तर्क से हैं। इसके अनुसार यदि किसी भी बात को यदि तर्क के अनुसार सम्मत मान लिया जाय तो इस बात को हम धर्म के श्रोत के रूप में स्वीकार कर सकते हैं।

मीमांसा

मीमांसा का तात्पर्य सम्भवतः कानून या विधि की व्याख्या से है और धर्म शास्त्र तो स्मृतियाँ ही है।

इसके अतिरिक्त कुछ धर्म के अन्य श्रोत है। जैसे प्राचीन काल से ही परिषद का उल्लेख हुआ है। सर्वप्रथम वृहदारण्यक उपनिषद पाँच राजाओं के एक परिषद का उल्लेख प्रथम बार हुआ है। अशोक के अभिलेख में जो परिषद शब्द का उल्लेख हुआ है। सम्भवतः परिषद शब्द के लिये ही हुआ है। स्मृतियों में परिषद के लिये अनेक नियम निर्धारित किये गये हैं जैसे परिषद के लिये तीन विद्वान ब्राह्मण अनिवार्य होते हैं। मन्त्रिमण्डल का उल्लेख ऐतिहासिक काल से ही प्राप्त होने लगता है। नियम निर्धारण में इसका विशेष योगदान रहता था।

राजा

परिषद के बाद धर्म का श्रोत राजा भी था क्योंकि राजा को वह अधिकार दिया गया था जिससे वह प्रजाहित के उद्देश्य से नियमों का सृजन भी कर सकता था। और अधिकांशतः देखा गया है कि मन्त्रिमण्डल केवल परामर्श देने के लिये ही हुआ करता था। वास्तव में जो राजा की इच्छा होती थी वही होता था। कौटिल्य ने लिखा है कि धर्म, व्यवहार, चरित्र एवं राज्य शासन ये चार वस्तुयें व्यक्ति के लिये अत्यन्त आवश्यक है और यदि इसमें कहीं विरोध होता है तो राजाज्ञा राज्य शासन को ही प्राथमिकता दी जाती है।

धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रम् राजशासनम्।
विवादार्थः चतुष्पादः पश्चिमः पूर्वबाधकः ॥

अर्थशास्त्र

अतः हम कह सकतें हैं कि ऋग्वेदिक काल से लेकर मध्य युग तक निरन्तर विधि के श्रोत का विकास एवं प्रवाह होता रहा।

●

अध्याय १३

उत्तराधिकार के नियम

सामान्यतः कानून या विधि को साम्पत्तिक एवं वैयक्तिक दो भागों में बाटा जाता है। साम्पत्तिक अधिकार सामान्यतः पिता एवं पुत्र के अधिकारों की चर्चा करता है। पिता एवं पुत्र के आपसी अधिकारों के सन्दर्भ में एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण अति आवश्यक है। प्रारम्भ में सम्पूर्ण समाज अनेक जन जातियों में विभक्त था और कुटुम्ब या परिवार का कोई भी स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं था। सम्पूर्ण सम्पत्ति पर सम्पूर्ण जन जाति का अधिकार हुआ करता था। इस तरह से एक आदिम कालीन साम्यवाद की कल्पना उस प्राचीनतम युग में करते हैं। धीरे-धीरे जनजातियों का विधान आरम्भ हुआ जिससे अनेक कुटुम्ब या परिवार अस्तित्व में आयें।

साधारणतः इस कुटुम्ब या परिवार को वंश कहा गया है। इस विशाल वंश में किसी की कोई व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं थी। इन्हीं वंशों से बाद में कुल की उत्पत्ति हुयी जिसमें सामान्यतः तीन पीढ़ी के लोग सम्मिलित थे। कुल में सम्पूर्ण सम्पत्ति कुलाधिपति या पिता का हुआ करता था। परिवार का कोई भी अन्य सदस्य सम्पत्तिक अधिकार का दावा नहीं कर सकता था। यहाँ तक कि परिवार के सदस्यों का जीवन भी उसी के अधिकार में माना जाता था। पिता के इस एकाधिपत्य को प्रमाणित करने वाले अनेक उदाहरण भी प्राप्त हुये हैं। ऋग्वेद में जो ऋजाम्ब नायक एक ऋषि का नाम बताया गया कि उसकी आँखें उसके पिता ने इसलिये निकलवा दी थी कि वह अपने भेड़ चराने के कार्य में सफल नहीं था।

इसी तरह सतपथ ब्राह्मण में शुनः शेष की कथा से इसी तरह के एकाधिकार का ज्ञान प्राप्त होता है। कठोप-निषद् में जब नचिकेता को उसके पिता ने यमराज के के हाथों में सौप दिया था तो उसने किसी प्रकार की आपत्ति नहीं की। इस उद्धरणों से यह निश्चित होता है कि उस समय पिता के अतिरिक्त परिवार का हर सदस्य साम्पत्तिक अधिकार से वंचित था। इसी तरह वशिष्ठ धर्म सूत्र में बताया गया है कि माता पिता के ही शुक्र शोणित से उत्पन्न पुत्र पर उनका पूर्ण अधिकार होता है और उसके क्रय-विक्रम में वे पूर्णतः समर्थ हैं—

शुक्र शोणित संभवो पुत्र मातः-पिता निमित्ताकः।
तस्य प्रदान विक्रय त्यागेषु मातापितरौ पुत्रवतः॥

मनु स्मृति में यह बतलाया गया है कि भार्या, पुत्र एवं दास ये तीनो ही अधन माने गये हैं ये जिसके यहाँ जाते हैं उसी की सम्पत्ति हो जाते हैं—

भार्या पुत्रश्च दाशाश्च त्रयैव अधना: स्मृता ।
यत्ते समधि गच्छति यस्य ते तस्ये तद्धनम् ।।

वशिष्ट का समय सामान्यत: तृतीय एवं चतुर्थ शती ई० पू० माना जाता है अर्थात् मनु तथा वशिष्ट के समय तक पुत्र अधन रहे किन्तु बाद में परिस्थिति एक दम से परिवर्तित हो जाती है। शुन शेष की कथा एक तरफ यदि पुत्रों के अधन होने की प्रमाण प्रस्तुत करती है तो दूसरी तरफ पुत्रों के अधिकार के ओर भी यह कथा संकेत करती है—

"स्त्रीणां धन विक्रयाति सगमं विद्यते नपुस:" निरुक्त ।

इसी तरह तैतरीय संहिता तथा सतपथ ब्राह्मण में भी मनु द्वारा अपने पुत्रों में सामान्य विभाजन का उल्लेख प्राप्त हुआ है। इसके अतिरिक्त जैमिनीय उपनिषद में अभिप्रतारण के कथा से भी यह संकेत प्राप्त होता है कि पुत्रों दाय सम्बन्धी संघर्ष प्रारम्भ हो गया था। अभिप्रतारण की कथा से भी यह संकेत प्राप्त होता है कि जब वह मृत्यु शय्या पर पड़ा हुआ था तब अपने पुत्रों के कोलाहल से व्याकुल हुआ और जब उसे ज्ञान हुआ कि उसके पुत्र दाय के लिये ही इस प्रकारका संघर्ष कर रहे है तो बहुत ही दु:खित हुआ और पश्चात करने लगा कि बहुत पहले ही यह सुना था कि ऐसा युग आयेगा जब पिता के जीवनकाल में ही पुत्र सम्पत्ति के अधिकार के लिये संघर्ष करेंगे और अभी मै मरा भी नहीं कि वह युग आ गया और मेरे ही पुत्र इस प्रकार संघर्ष कर रहे है। ये सभी दृष्टान्त एक तरफ तो प्रमाणित कर रहे हैं कि जहाँ एक तरफ पिता की मृत्यु के पश्चात पुत्रों को साम्पत्तिक अधिकार प्राप्त होता था, वही साथ ही साथ एक दूसरी विचार धारा पनप रही थी जिसके अनुसार पिता के जीवन काल में ही उसके पुत्र साम्पत्तिक अधिकार की घोषणा कर रहे थे। इस सम्बन्ध में सामान्य रूप से दो सिद्धान्त विकसित हुये।

(i) उपरम स्वत्व सिद्धान्त ।
(ii) जन्मनास्वत्व सिद्धान्त ।

उपरम स्वत्व सिद्धान्त का यह अर्थ है कि साम्पत्तिक अधिकार पुत्र को पिता की मृत्यु के पश्चात ही प्राप्त हो सकता है और जन्मना स्वत्व का यह तात्पर्य है कि जन्म लेत ही पुत्र का पैतृक सम्पत्ति में पूर्ण अधिकार हो जाता हैं।

उपरम स्वत्व सिद्धान्त को लेकर १६ वीं शताब्दी में जीमूतवाहन नाम में एक विद्वान ने दाय भाग नामक एक ग्रन्थ लिखा और उसे सामान्य रूप से

दाय भाग सिद्धान्त कहने लगा। दूसरे मत को लेकर विज्ञानेश्वर ने याज्ञवल्क्य स्मृत पर एक काव्य लिखा और इसका नाम मिताक्षरा रखा और तभी इसे मिताक्षरा समप्रदाय के नाम से पुकारने लगे। दायभाग समप्रदाय में जो दूसरे अन्य ग्रन्थ लिखे गये हैं उनमें से एक रघुनन्दन का दायत्व है। और दूसरा श्री कृष्ण तारकांकर का दायक्रम संग्रह है।

दायभाग और मिताक्षरा—

मित्ताक्षरा समप्रदाय जो सम्पूर्ण भारत में विकसित था चार क्षेत्रीय विभागों में विभाजित हो गया है।

(i) बनारस (ii) मिथिला (iii) महाराष्ट्र (ii) द्रविण अथवा मद्रास।

बनारस समप्रदाय में उत्तराधिकार के सम्बन्ध में सबसे प्रचलित ग्रन्थ मित्रोदय है, मिथिला में विवादचन्द्र, विवादरत्नाकर, विवाद-चिन्तामणि, महाराष्ट्र में व्यवहार मयूष, मद्रास में स्मृति चन्द्रिका, सरस्वती-विलास विशेष रूप से प्रमाणित ग्रन्थ माने गये हैं।

(1) दायभाग और मिताक्षरा में सामान्यत: तीन तरह की विभिन्नतायें प्रदर्शित की गयी हैं। प्रथम तो दायभाग सिद्धान्त के अनुसार पैतृक सम्पत्ति का विभाजन पिता की मृत्यु के बाद ही सम्भव है किन्तु मिताक्षरा समप्रदाय के अनुसार पुत्र को जन्म लेते ही पैतृक सम्पत्ति में उसका पूर्ण अधिकार स्थापित हो जाता है।

(2) दायभाग सिद्धान्त विशेषरूप से धार्मिक योग्यताओं पर आधारित है किन्तु मिताक्षरा समप्रदाय सम्बन्धों पर विशेष बल देता है।

(3) दायभाग समप्रदाय में पुत्र हीन विधिया भी पति की सम्पत्तिका उत्तराधिकार प्राप्त कर सकती है किन्तु मिताक्षरा के अनुसार इसे उत्तराधिकार में कोई स्थान नहीं दिया गया है।

जन्मनास्वत्व सिद्धान्त का समर्थन करने के कारण मिताक्षरा सम्प्रदाय में उत्तराधिकार को दो भागों में विभाजित किया गया है—

(i) अप्रतिबन्ध दाय (ii) सप्रतिबन्ध दाय।

अप्रतिबन्ध दाय के अन्तर्गत चाचा भतीजे आदि सम्बन्धी आते हैं जिनका प्रयोजन पुत्राभाव में ही पड़ता है। दायभाग समप्रदाय भाग बंगाल में ही प्रचलित है। किन्तु मिताक्षरा बंगाल के अतिरिक्त सम्पूर्ण भारत में प्रचिलित है। बंगाल में दाय भाग के प्रचलन के सम्बन्ध में डा० जाली ने यह बतलाया है कि विदेशी व्यापार बौद्ध धर्म और तन्त्रवाद के परिणामस्वरूप बंगाल दाय भाग का एक महपूर्ण अंग बन

गया। डा० जाली के अनुसार अत्यन्त प्राचीन काल से ही बंगाल में विदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित था। इसका फल यह हुआ कि बंगाल में सर्वप्रथम बौद्धिक जागृत हुयी। दूसरे बौद्ध धर्म का एक प्रमुख केन्द्र होने के कारण वहाँ पर ब्राह्मण धर्म का विशेष प्रभाव पड़ा। ब्राह्मण धर्म के प्रभाव से वंचित होने के कारण वह क्षेत्र स्त्रियों के प्रति अधिक उदार रहा और इसी तरह बौद्ध धर्म के महादान सम्प्रदाय में ही बाद में जब तन्त्रवाद का विशेष प्रभाव पड़ा तो वहां प्राचीन विचारधारा प्रचलित थी किन्तु महामहोपाध्याय काले के अनुसार जाली का यह मत सही नहीं प्रतीत होता हैं। वास्तव में भारत में जो प्राचीनतम व्यापारिक केन्द्र कहा जा सकता है, वह भारत का पश्चिमी तट ही हो सकता है। यूनानियों ने बेरी गाजा या भड़ोच का व्यापारिक केन्द्र के रूप में विशेष वर्णन किया है। इसी तरह बौद्ध धर्म के केन्द्रों में सारनाथ, सांची, अमरावती, नागार्जुनीय के साथ बंगाल को कोई स्थान नहीं है। इसके अतिरिक्त तन्त्रवाद का जहाँ प्रश्न है, वह भी बंगाल में बाद में विकसित प्रतीत होता है। मध्य प्रदेश एवं उड़ीसा में तन्त्रवाद का विशेष प्रभाव दिखाई पड़ता है। इसीलिए जाली का मत निराधार प्रतीत होता है।

दाय भाग और मिताक्षरा में कौन प्राचीनतम है यह भी एक विवादास्पद प्रश्न हैं। दाय भाग की रचना सोलहवी शताब्दी में हुयी। और मिताक्षरा की रचना ११ वीं शताब्दी में। इस प्रकार रचना की दृष्टि से दायभाग से मिताक्षरा को प्राचीनतम माना जा सकता है। परन्तु जस्टिस पी० एन० सेन तथा जस्टिस शरदचन्द्र ने मिताक्षरा की इस प्राचीनता में सन्देह व्यक्त किया है। इसके अनुसार मिताक्षरा की प्राचीनता को सिद्ध करने के लिए विज्ञानेश्वर ने किंचति मनगढ़न्त बातों का प्रयोग किया है। जैसा मिताक्षरा में एक स्थान पर बताया गया है—'उत्पत्यै अर्थ स्वामित्व तयेते त्याचार्या; इति गौतम वचनाम। अर्थात गौतम धर्म सूत्र के अनुसार जन्म से ही अर्थ स्वामित्व प्राप्त किया जा सकता हैं। जस्टिस सेन और मित्र के अनुसार गौतम धर्म सूत्र में यह वाक्य प्राप्त नहीं है किन्तु काले महोदय ने सेन तथा मित्र के इस मत का विश्वास नहीं किया। बल्कि जन्मना स्वत्व में सिद्धस्त के समर्थन अन्य प्रणाली को भी गौतम धर्म सूत्र में ढूढ़ा है। एक स्थल पर गौतम धर्मसूत्र में पंक्ति विदूषकों का उल्लेख है कि जिसमें बताया गया है कि चिन्ता की इच्छा के विरुद्ध सम्पत्ति विभाजन करने वाले पंक्ति विदूषक होते हैं। इससे यह प्रमाणित होता हैं कि गौतम धर्म सूत्र के समय पुत्र सम्पत्ति के अधिकार प्राप्त करते रहे। अतएव मिताक्षरा में विज्ञानेश्वर ने गौतम धर्मसूत्र का जो उद्धरण प्रस्तुत किया है उसे कभी भी बनावटी नहीं कह सकते हैं। दाय भाग एवं मिताक्षरा १६ वी एवं ११वी शताब्दी से भी प्राचीन है। नारद स्मृति, अर्थशास्त्र, मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से पुत्रों

के अधन होने की बात कही गयी है। अर्थ शास्त्र में यह बताया गया है पिता के जीवन काल में पुत्र अधन होते है। इसी तरह नारद ने भी कहा है कि भार्या, पुत्र एवं दास तीनों ही अधन होते हैं।

'त्रैवधनाः भार्या पुत्रश्च दासश्च'।

इसी तरह मनु ने भी पुत्र के अधन होने का प्रमाण दिया है। दूसरी तरफ जन्मना स्वत्व सिद्धान्त में बृहस्पति स्मृत के काल तक निश्चित रूप से प्रमाणित है। बृहस्पति स्मृत में यह उल्लेख आया है कि चल एवं अचल सम्पत्ति में पितामह की मृत्यु के पश्चात पिता एवं पुत्र का बराबर अधिकार होता है।

"दत्ते पिता प्रहोपत्ति स्त्राबरे जङ्गमे तथा
समयंशिस्वयायातं पितुः पुत्रस्य चैवहि।"

इसी प्रकार विष्णु धर्म सूत्र में भी जन्मना स्वत्त सिद्धान्त का समर्थन किया गया है. इन उद्धरणों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि मिताक्षरा एवं दाय भाग सम्प्रदाय दो सम्प्रदाय के रूप में भले ही ११वीं एवं १६वीं शताब्दी मे विकसित हुये हो किन्तु यह सिद्धान्त इससे भी बहुत प्राचीनतम है। सांमान्य रूप से पिता की मृत्यु के पश्चात या जीवन काल में उत्तराधिकार क्रम पुत्र को प्रदान किया गया है। किन्तु यदि पुत्र न रहे तो पुत्र के अभाव में पुत्राधिकार के सम्बन्ध में सपिण्ड शब्द विशेष महत्वपूर्ण है। आपस्तम्ब धर्म सूत्र में यह बतलाया गया हैं कि पुत्र के अभाव में जो निकटतम सपिण्ड होता है वही उत्तराधिकारी होता है।

'पुत्राभावे यः प्रत्यासन्नः सपिण्डः।

मनु ने भी बताया है कि—

अनन्तरः सपिपण्डा धस्तस्य भवेतः।

मिताक्षरा में सपिण्ड का तात्पर्य शरीर के अवयव से बताया गया है। अर्थात रक्त से सम्बन्धित सभी लोग उत्तराधिकार के भागी होंगे। दाय भाग में पारिवारिक जीवन को सुखमय बनाने के लिये जो पिण्ड दे सकते है, सपिण्ड कहा गया है। इसमें बुआ, पुत्री आदि सभी आ जायेंगे।

विभाग (बटवारा)—संयुक्त हिन्दू परिवार के सब सदस्य पूर्वजो की सम्पत्ति का सम्मिलित रूप से उपभोग करते हैं। उनका इसके किसी अंश पर वैयक्तिक अधिकार नहीं होता है इस धन पर एकाधिकार की उत्पत्ति विभाग या बटवारे से होती है।

पैत्रिक सम्पत्ति का विभाजन कब और किस रूप में होता है, इस सम्बन्ध में मिताक्षरा एवं दाय भाग ये दोनों ही सम्प्रदाय दो भिन्न मतों को प्रतिपादित करते

है। मिताक्षरा के अनुसार उस सम्पत्ति जिस पर एक समूह का स्वामित्व होता है। उसके एक निश्चित अंश को विभाग कहा गया है।

'विभागो नाम द्रव्य समुदाय वियषयाणाम्।
अनेक स्वाम्यानां तदेकदेशेषु व्यवस्थापनम्॥'

इसी तरह से दायभाग के अनुसार चल अथवा अचल सम्पत्ति के एक अंश या एक हिस्से पर गेंद इत्यादि फेकने से जो अधिकार उत्पन्न हो, उसे विभाग कहा गया है।

एकदेशोपात्त स्मैव भूह्रिरण्या।
स्वत्वस्य विनिगमना प्रमाणा भावेन वेशेषिक व्यवहारान्॥

दाय भाग एवं मिताक्षरा के अनुसार विभाग की सीमायें भिन्नरूपेण निर्धारित की गयी है! मिताक्षरा के अनुसार सम्पत्ति पर सामूहिक अधिकार होता है किन्तु दाय भाग के अनुसार सम्पत्ति के एक भाय पर अधिकार होता है। मिताक्षरा के अनुसार उत्तराधिकारियों की संख्या जन्म अथवा मृत्यु के अनुसार घट बढ़ सकती है। किन्तु दाय भाग में इस प्रकार का कोई प्रश्न नहीं उठता। जैसे यदि किसी व्यक्ति के पास चार पुत्र है तो उसकी पूरी सम्पत्ति पर पाँच व्यक्तियों का स्वामित्व होगा। यदि एक पुत्र पुनः उत्पन्न हो जाय तो हिस्सेदारों की संख्या छः हो जाती है या किसी एक का निधन हो जाय तो हिस्सेदारों की संख्या मात्र चार रह जाती है। किन्तु दाय भाग में इस प्रकार का कोई विवाद नहीं उठता है। तीसरे दाय भाग के अनुसार विभाजन मृत्यु के पश्चात होता है किन्तु मिताक्षरा के अनुसार यह विभाजन पिता के जीवन काल में कभी हो सकता है।

अध्याय १४

स्त्री धन

प्राचीन काल में स्त्रियों के साम्पत्तिक अधिकार को लेकर विभिन्न विद्वानों में मतभेद रहा है। पितृ सत्तात्मक परिवार के अन्तरगत पिता के अतिरिक्त किसी को भी साम्पत्तिक अधिकार नहीं प्राप्त था। डा० गुरुदास बनर्जी ने ऋग्वैदिक युग में स्त्री धन के अस्तित्व को अप्रमाणिक माना है। इस मत के समर्थकों ने प्राचीन साहित्य से अनेक ऐसे उद्धरण ढूंढे है जिसमें स्त्रियां स्वयं साधारण वस्तुओं की तरह क्रय-विक्रय का माध्यम बनी हुयी थी। हरिश्चन्द्र तथा द्रोपदी की कथा से यह अनुमान लगाना स्वाभाविक-सा ही लगता है इस युग में जब वे स्वयं साधारण वस्तुवत पति या पिता के घर निवास करती थी तो उन्हें साम्पत्तिक क्या मिल सकती थी। किन्तु इस प्रकार के प्रमाण अपवाद स्वरूप कहे जा सकते हैं। ऋग्वेद में ही ऐसे कुछ शब्द प्राप्त हुये हैं जो इस बात को पूर्णतः प्रमाणित करते हैं कि स्त्रियां भी साम्पत्तिक अधिकार में पूर्ण योगदान करती थीं। 'दम्पत्ति' शब्द यहाँ एक ओर गृहस्वामी का परिचायक है वहीं गृह स्वामिनी भी इससे पृथक नहीं है। इस तरह से पूर्व वैदिक युग में ही स्त्रियों के साम्पत्तिक अधिकार का उल्लेख किया जा सकता है। ऋग्वेद में ऐसे भी कुछ उदाहरण प्राप्त हुये हैं जिनमें स्त्री धन के प्राचीनतम स्वरूप को निर्धारित किया जा सकता है। जैसे एक स्थल पर यह बतलाया गया है कि कन्या के पिता को वर पक्ष की तरफ से जो धन प्राप्त हुआ था उसे उसने अपनी कन्या को पुनः लौटा दिया था। कुछ ही दिनों में जब वह स्त्री दिवंगत हो गयी तो वह सम्पूर्ण धन पुनः उसके पिता के पास लौटा दिया गया। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि स्त्री धन का जन्म आस एवं आसुर विवाह में वर पक्ष से प्राप्त धन से हुआ है। इस प्रकार ऋग्वैदिक काल से ही स्त्रियों को कुछ न कुछ धन इस प्रकार अवश्य ही प्राप्त था जिसे वह स्वतन्त्र रूप से खर्च कर सके। वास्तव में जो कुछ विवाद है वह मुख्य रूप से अचल सम्पत्ति को लेकर है। इसलिये यदि स्त्री धन को मूल रूप से पारिभाषिक करने का प्रयास किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि विवाह, पुत्र जन्म इत्यादि शुभ अवसरों पर विभिन्न सम्बन्धियों से प्राप्त उपहार स्वरूप धन को भी स्त्री धन का नाम दे सकते हैं स्मृतकारों ने यह स्पष्ट रूप से कहा है कि वह धन जो किसी गैर सम्बन्धी से प्राप्त हो उसे कभी भी स्त्री धन के अन्तरगत

समाहित नहीं किया जा सकता है। याज्ञवल्क्य, वशिष्ठ, मनु इत्यादि स्मृतिकारों ने स्त्री धन को छः भागों में विभाजित किया है। पिता द्वारा प्राप्त धन, माता द्वारा प्राप्त धन, पति द्वारा प्राप्त धन, भाई द्वारा प्राप्त धन, मामा द्वारा प्राप्त धन तथा सास-ससुर द्वारा प्राप्त धन। यह धन विवाह के पूर्व, विवाह के अवसर पर और इसके बाद भी प्राप्त किया जा सकता था। इस प्रकार के धन में अचल सम्पत्ति का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता।

वात्सायन ने इसको अन्य छः भागों में विभाजित करने का प्रयास किया है।

(i) सप्तपदी संस्कार के पूर्व जो धन स्त्री को दिया जाता है उसे अध्याग्नि स्त्री धन कहा जाता है।

(ii) विदाई के समय जो धन दिया जाता उसे अध्यावहनिक स्त्री-धन कहा जाता है।

(iii) पति के घर पहुँच कर जब सास-ससुर एवं ज्येष्ठ जनों के चरण-स्पर्श के समय जो धन प्राप्त होता है उसे प्रीति-दत्त स्त्री धन कहा जाता है।

(iv) विवाह के समय ही पिता या पति के द्वारा जो धन प्राप्त होता है उसे अन्वाधेय स्त्री धन कहा जाता है।

(v) विदाई के समय वाहन तथा अन्य वस्तुओं के क्रय से जो धन प्राप्त होता है उसे शुल्क स्त्री-धन कहा जाता है।

इसके अतिरिक्त विभिन्न अवसरों पर जो धन प्राप्त होता है उसे साधारणतः स्त्री धन के नाम से वात्सायन ने पुकारा है। वात्सायन का यहाँ विभाजन बहुत ही भ्रामक और अस्पष्ट है। इसको स्पष्ट करने के लिये स्मृतिकारों ने स्त्री-धन को दो भागों में विभाजित किया है—

(i) सौदायिक और (ii) असौदायिक। सौदायिक धन से तात्पर्य उस स्त्री-धन से है जिसे वह पूर्ण या आंसिक रूप से अपनी इच्छानुसार प्रदत्त करने में स्वतन्त्र हो।

"सौदायिक स्त्री धन प्राप्य स्वातंत्र्यमिष्यते" असौदायिक धन का यह अर्थ है कि जिसके पूर्ण या आंशिक उपभोग के लिये उसे अपने पति या अन्य किसी सम्बन्धी के ऊपर आश्रित रहना पड़े।

इस प्रकार सौदायिक तथा असौदायिक विभाजन स्त्री-धन से सम्बोधित मत सम्पत्ति के विषय में अधिक सार्थक प्रतीत होता है। किन्तु सातवीं सती तक आते-आते स्त्री धन की सीमा एवं क्षेत्र विस्तृत होने लगा। उसमें चल सम्पत्ति के साथ ही साथ अचल सम्पत्ति को भी समाहित किया जाने लगा।

विज्ञानेश्वर के अनुसार याज्ञवल्क्य स्मृति के ही ऋक्थ (दाय) तथा सम विभाग आदि को भी स्त्री धन के अन्तरगत समाहित किया गया। याज्ञवल्क्य स्मृति

में 'आधिवेदनिका द्याय' शब्द को ऋक्थ सम्बन्धी अधिकारों को सूचित करने वाला बताया गया है। यहाँ पर आद्यम शब्द में यद्यपि यह तो निश्चित नहीं है कि याज्ञवल्क्य का यहाँ पर क्या तात्पर्य रहा ? किन्तु विज्ञानेश्वर का ऐसा अनुमान है कि इस आद्यम शब्द के द्वारा याज्ञवल्क्य ने स्त्री धन की सीमा को, और भी बढ़ाया और उसमें पैतृक अचल सम्पत्ति को भी सम्मिलित किया। किन्तु जीमूतवाहन के अनुसार यह शब्द 'अधिवेदनिकातचैवहि' होना चाहिये। इस शब्द से किसी भी रूप में स्त्री धन की सीमा निश्चित नहीं प्रतीत होती। इसलिये स्त्री धन की सीमा के विस्तार का श्रेय याज्ञवल्क्य को नहीं वरन् विज्ञानेश्वर को दिया जा सकता है। सातवीं शताब्दी के बाद निश्चित ही स्त्री धन की सीमा निश्चित हुयी होगी। और उसमें चल सम्पत्ति के साथ ही साथ अचल सम्पत्ति को भी सम्मिलित किया गया। इस प्रकार प्रारम्भिक रूप में स्त्री धन के अन्तरगत विभिन्न अवसरों पर प्राप्त विभिन्न सम्बन्धियों द्वारा दिया गया उपहार स्वरूप धन ही स्त्री धन के अन्तरगत माना जाता था। किन्तु बाद में देवल एवं कात्यायन आदि स्मृतिकारों ने स्त्री धन के अन्तर्गत बिना सम्बन्धियों द्वारा किया गया धन भी स्वीकार किया तथा परवर्ती काल में चल सम्पत्ति को भी उसके अन्तर्गत सम्मिलित किया गया। जहाँ तक स्त्री धन के उत्तराधिकार का प्रश्न है, यह समय-समय पर परवर्तित होता रहा। प्रारम्भिक काल में स्त्री धन पर उसके भाई या पिता का अधिकार माना जाता था किन्तु बाद में यदि उसका पुत्र जीवित है तो स्त्री के भाई और पिता को उनके अधिकार से वंचित कर दिया गया।

अधिकांश स्मृतियों ने स्त्री धन पर पुत्री का अधिकार माना है किन्तु जैसे ही स्त्री धन की सीमा का विस्तार होता गया, उसमें चल एवं अचल सम्पत्ति दोनों ही ही सम्मिलित किये गये। वैसे ही उसके उत्तराधिकार की समस्या स्त्री धन के प्रति और भी जटिल होती गयी और यहाँ तक कि बाद में उस सम्पत्ति पर पति अथवा पुत्र का अधिकार माना गया। पुत्री या उस स्त्री के भाई या पति को उत्तराधिकार के लिये कोई स्थान न रहा। अन्य पैतृक सम्पत्ति की तरह स्त्री धन के ऊपर भी उसके मरणोपरान्त पुत्र का ही अधिकार स्वीकार किया गया।

अध्याय १५

न्यायिक प्रक्रिया या व्यवहार

प्राचीन काल से ही न्याय का पूर्ण अधिकार राजा को ही प्राप्त था। यही न्याय का प्राथमिक स्रोत और अन्तिम स्थान भी था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राजा को यह आदेश दिया गया है कि वह दिन के दूसरे पहर से धर्म स्थान में बैठकर विभिन्न प्रकार के विवादों का समाधान करें। मनु, याज्ञवल्क्य तथा उनके स्मृतकारों ने भी राजा को ही न्याय का एकमात्र स्थान कहा है मनुस्मृत में यह बतलाया गया हैं कि न्याय पर व्यवहार के लिए राजा को धर्मस्थान में धर्मज्ञ ब्राह्मणों के साथ आसीन होना चाहिए और इस समय उसे राजसी वेषभूषा में न होकर विनम्र या दयालु रूप में होना चाहिये। याज्ञवल्क्य का भी यह कथन है कि क्रोध एवं लोभ से रहित राजा धर्मवेत्ता ब्राह्मणों के साथ न्याय दे। याज्ञवल्क्य स्मृत पर टीका करते हुए विज्ञानेश्वर ने भी यह लिखा है कि राजा का सर्वोत्तम कर्तव्य प्रजा की रक्षा में है। जो दुष्टों को दण्डित किये बिना असम्भव है इस दण्ड प्रधान धर्म के विषय में मनु ने भी लिखा है कि ब्रह्मा ने प्राचीनकाल में धर्म को दण्ड रूप से हो पैदा किया था।

"धर्मो हि दण्डरूपेण ब्रह्मणा निर्मिता पुरा"।

यदि राजा इस प्रकार न्याय देने के लिये उपस्थित न रहे या अन्य राजकीय कार्यों में व्यस्त रहे तो उसे किसी अन्य न्यायाधिकारी की नियुक्ति करनी चाहिए इस न्यायाधिकारी को भी चाहिये कि राजा की ही भाँति सभ्यों के साथ बैठकर न्याय वितरण करे। इस धर्माधिकारी को सामान्यतः धर्माध्यक्ष धर्म प्रवक्ता या प्राड्विवाक आदि नामों से पुकारा गया है। प्राड् का वास्तविक अर्थ होता है प्रश्न होता है और विवाक का तात्पर्य इन प्रश्नों के विश्लेषण से है अर्थात प्राड्विवाक नाम ही यह प्रमाणित करता है कि वादी तथा प्रतिवादी के प्रश्नों के विश्लेषण से धर्माध्यक्ष न्याय दिया करते थे। इस प्राड्विवाक की योग्यताओं को निर्धारित करते हुए स्मृतिकारों ने यह बतलाया है कि प्राड्विवाक को कम से कम १८ विधि तथा ८००० उनके प्रकारों का ज्ञान अवश्य होना चाहिये। इन धर्माध्यक्षों को श्रुतियों तथा स्मृतियों का भी धर्मज्ञ होना चाहिये और साथ ही साथ उन्हें आन्वीक्षिकी या तर्कशास्त्र का भी ज्ञान होना चाहिए। इन प्राड्विवाक या धर्माध्यक्षों को लोभ रहित तथा धन से पूर्ण सम्पन्न होना चाहिए—

'अलुब्धा धनधन्सइय'

इन प्राड्विवाकों के साथ बैठने वालों सदस्यों की संख्या के विषय में विद्वान एक मत नहीं है। मनु के अनुसार इनकी संख्या तीन होनी चाहिये। बृहस्पति के अनुसार इनकी संख्या ३, ५, या ७ होनी चाहिये इन स्मृतकारों ने इनकी संख्या विषम इस-लिए बतलाई है क्योंकि यदि इन सभ्यों में कोई विवाद हो तो आपसी मत का सम-र्थन करते हुए अधिक संख्या के मत को माना जा सकता है।

धर्म स्थानको स्मृतियों में अनेक नामों इसे पुकारा गया है से धर्मासन या धर्मा-धिकरण भी कहा गया हे। बृहस्पति के अनुसार धर्म स्थान चार प्रकार के होने चाहिये—

(i) प्रतिष्ठित (ii) अप्रतिष्ठित
(iii) मुद्रित (iv) शासित

प्रतिष्ठित धर्म स्थान वह है जो कि राजधानी में या अन्य धर्म स्थानों में स्थायी रूप से बना हो। अप्रतिष्ठित धर्म स्थान वह है जो कि एक स्थान से दूसरे स्थान पर समय-२ पर परिवर्तित होता रहता है।

मुद्रित स्थान वह है जहाँ मात्र राजकीय मुद्रा के द्वारा ही न्याय किया जाता है। शासित धर्म स्थान वह है जहाँ राजा स्वयं आसीन होकर न्याय किया करता है।

"पुरे ग्रामें चला नामाऽप्रतिष्ठिता।
मुद्रिकध्यक्ष संयुक्ता राजसंयुक्ता शासिता॥"

व्यवहार—शब्द जो कि न्यायिक प्रक्रिया के लिए ही प्रयुक्त हुआ। यह धर्म शास्त्रों तथा स्मृतियों में अनेक अर्थो में प्रयुक्त हुआ है। आपस्तम्ब, मनुतथा शान्तिपर्व में इसे आदान प्रदान या विनिमय के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। इसके अतिरिक्त वैधानिक क्षमता या वैधानिक सत्ता को भी शंख लिखित में व्यवहार नाम मे सम्बो-धित किया गया है। गौतम ने इसे विवाद के निर्णय का नाम दिया है। वास्तव में यदि समग्ररूपेण इसका अध्ययन किया जाय तो व्यवहार का तात्पर्य न्यायिक प्रक्रिया ही प्रतीत होती है। अशोक के दिल्ली के टोफर नं० १ के अभिलेख में 'वियोहाल सम्मता' अर्थात व्यवहार सम्मपता शब्द प्रयोग किया गया है। इसी तरह खारवले के हाथी गुम्फा अभिलेख में भी व्यवहार विधि का प्रयोग प्राप्त होता है। साहित्यिक एवं पुरातात्विक दोनों ही साक्ष्यों से व्यवहार का अर्थ न्यायिक प्रक्रिया निकलता है। कात्यायन-स्मृति में व्यवहार का अभिप्राय नाना प्रकार के संदेहों को दूर करने से लिया गया है।

"विनानार्थेऽव सन्देहे हरणं हार उच्यते"

इसी तरह हारिति ने भी अपने धन की प्रगति और दूसरे के धर्म का प्रव्रजन जिस प्रक्रिया से किया जाता है उसे व्यवहार से सम्बोधित किया है। काणे ने यह भी बताया है कि जिस भारतीय दर्शन की समस्त शाखाओं का उद्देश्य सत्यान्वेषण है उसी तरह व्यवहार से भी तात्पर्य विवाद की सत्यता एवं वास्तविकता का पता लगाना है।

व्यवहार की अवस्थाएं

स्मृतियों में व्यवहार की चार अवस्थाओं का उल्लेख प्राप्त होता है।

(i) आगम (ii) व्यवहार पद

(iii) चिकित्सा या क्रियापद (iv) निर्णय

"आगम प्रथम कार्यो व्यवतार पदं ततः
चिकित्सा निर्णयश्चैव दर्शनं स्माचतुर्विधम

आगम का तात्पर्य व्यवहार की इस अवस्था मे है जब वादी धर्मस्थान में उपस्थित होकर अपने सभी करों को व्यक्त करता है।

व्यवहार पद का तात्पर्य व्यवहार की उस अवस्था से है जिसमें प्रतिवादी के समक्षवादी की आपत्तियों को पूछा जाता है और प्रतिवादी उसका उत्तर देता है। चिकित्सा का तात्पर्य उस अवस्था से है जिसमें प्रतिवादी के अनुसार विवाद पर विचार किया जाता है और चौथी अवस्था में वह जिसमें राजा या प्राड्विवाकसभ्यों के साथ बैठकर निर्णय देने के लिए विचार करता है।

आगम :—जब धर्मस्थान खुला रहे राजा या प्राड्विवाक धर्मस्थान पर आसीन रहे तो उस समय वादी को नमस्कार करते हुए प्रवेश करना चाहिये। प्राड्विवाक या राजा उस वादी अभियोग के सम्बन्ध में प्रश्न करते हैं। सर्वप्रथम यही पूछाजाता है कि !कि कार्यं (cause of letegation) का तें पीडा अर्थात तुम्हे क्या कष्ट है तुम्हें किसने कब कहाँ और किस प्रकार क्षति पहुँचाई। जब वादी इन प्रश्नों का उत्तर दे दे देता है। तब राजा या धर्माध्यक्ष इस प्रश्न पर विचार करते हैं कि क्या इस पर कानूनी कार्यवाही की जा सकती है। यदि अभियोग को स्वीकार कर लिया जाता है तो वादी के समस्त तथ्यों को लिखकर उसपर राजकीय मोहर लगाई जाती है और अभियुक्त के लिए सम्मन या आह्वान जारी किया जाता हैं। स्मृतियों में इस आह्वान के लिए भी परिस्थितियों का उल्लेख किया गया।

आह्वान की परिस्थितियाँ—सर्वप्रथम तो अभियुक्त पर ही आह्वान जारी किया जाता है। दूसरे यदि अभियुक्त किसी अन्य व्यक्ति को भी इसमें सम्मलित बताता है तो उसपर भी आह्वान या सम्मन जारी किया जाता है। तीसरे यदि अभियुक्त स्वयं को निर्दोष बताकर किसी दूसरे व्यक्ति को दोष युक्त बताता है तो उसपर भी सम्मन जारी किया जाता है चौथे यदि अभियुक्त धर्मस्थान में आने में असमर्थ है और अपने

स्थान पर किसी प्रतिनिधि को नियुक्त करता है और वादी द्वारा यह स्वीकार होता है तो उसपर भी सम्मन जारी किया जाता है। स्मृतियों में कुछ ऐसी परिस्थितियों का उल्लेख किया जा सकता जैसे यदि अभियुक्त अल्पवयस्क हो, अत्यन्त वृद्ध हो, किसी विशिष्ट कारणों से आने में असमर्थ हो, मृत्यु-शय्या पर पड़ा हो, धार्मिक अथवा कृषि कार्यों में व्यस्त हो तो इन परिस्थितियों में उस पर सम्मन नहीं जारी किया जाता है। इसके लिए उसके प्रतिनिधियों पर सम्मन जारी किया जाता है। स्मृतियों की इस प्रतिनिधि व्यवस्था के कारण यह एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है। कि क्या उस समय के प्रतिनिधि व्यावसायिक वकील हुआ करते थे ?

स्मृतियों में कही भी व्यावसायिक वकीलों का उल्लेख नहीं मिलता है बल्कि जिन प्रतिनिधियों का उल्लेख पाया गया है वे श्रुति तथा स्मृति में पारंगत होते थे और विवाद को स्पष्ट करने के लिए वादी तथा प्रतिवादी द्वारा धर्मस्थान में बुलाये जाते थे नारद स्मृति पर टीका करते हुए असहाय ने एक विवाद के सम्बन्ध में एक प्रतिनिधि द्वारा विवाद के स्पष्टीकरण का उल्लेख किया गया है किन्तु यह प्रतिनिधि प्रतिवादी का प्राचीनतम मित्र कहा गया है और एक मित्र के रूप में ही धर्म स्थान में वहां उपस्थित होता है।

इसके अतिरिक्त उस समय कोई शुल्क की कोई व्यवस्था थी या नहीं इस तरह की कोई स्पष्ट सूचना नहीं प्राप्त होती। याज्ञवल्क्य नारद, विष्णु आदि स्मृतिकारों ने यह वर्णन किया है कि जब अभियुक्त से जुर्माना वसूल किया जाता है तो उसका कुछ भाग राजा या धर्माध्यक्ष को दिया जाता था। जिसे न्यायालय शुल्क का ही स्वरूप कह सकते हैं अर्थात वकील और न्यायालय शुल्क का प्रचलन आधुनिक अर्थ में तो नहीं था किन्तु उसका प्रारूप स्मृतियों में अवश्य ही प्राप्त होता है।

कभी-२ अभियुक्त के भाग जाने की सम्भावना रहती थी इसी लिए सम्मन जारी करने के पूर्व ही आसेध (Stayorder) की व्यवस्था की गयी थी। वृहस्पति ने इस तरह के आसेध को चार भागों में बाँटा है।

(i) स्थानासेध—अर्थात जबतक उन्हे सम्मन न मिल जाय; वे स्थान को परिवर्तन नहीं कर सकते थे।

(ii) कालासेध—अर्थात जब तक उन्हें सम्मन न मिल जाय वे कोई दूसरा कार्य न कर सकते थे न कही जा सकते थे।

(iii) प्रवासासेध—दीर्घकाल तक अन्यत्र प्रवास करने के लिए सम्मन के पूर्व कहीं नही जा सकते थे।

(iv) कर्मासेध—इसके अनुसार विवाद ग्रस्त कार्य को तब तक नहीं कर सकते

थे जब तक न्यायालय कोई निर्णय न दे। कभी-२ यदि महान धन राशि को लेकर विवाद उत्पन्न हो जाय या इस प्रकार का कोई भी विवाद उत्पन्न हो जाय तो उस समय निधि स्थापन की भी व्यवस्था थी। कात्यायन ने यह लिखा है कि जिस धन को लेकर विवाद उत्पन्न हो उसे निर्णय तक विवादार्थी या किसी अन्य विश्वसनीय व्यक्ति के अधीन सुरक्षित रूप से रख देना चाहिये। कात्यायन की यह व्याख्या आधुनिक Receiver की ओर संकेत करती है।

व्यवहार पद—व्यवहार पद भी दो अवस्थाये होती हैं—

(i) पूर्व पक्ष (ii) उत्तर पक्ष।

पूर्व पक्ष के अन्तरगत प्रतिवादी धर्म स्थान में प्राड विवाक के समक्ष उपस्थित होता है और इस समय पुनः वादी से प्रश्न पूछे जाते हैं। वादी प्रतिवादी की उपस्थित में विस्तार से अपनी विपत्तियों को व्यक्त करता है। याज्ञवल्क्य ने यह बतलाया है कि वादी को इस समय घटना का पूर्व परिचय देना चाहिये। इसमें वर्ष, मास, पक्ष, तिथि और काल का स्पष्ट वर्णन होना चाहिए। साथ ही साथ प्रतिवादी का नाम, उसके पिता का नाम, और पितामह का नाम स्पष्ट रूप से बताना चाहिए। कात्यायन ने इस सम्बन्ध में एक लम्बी सूची प्रस्तुत की है। आपस्तम्ब का कहना है कि वादी को इस समय साधक तथा बाधक रूपी सभी तथ्यों को पूर्ण रूप से कहना चाहिए और इस समय यदि वह चाहे तो पूर्व कथन को बदल भी सकता है—

"शोधमेत्वपुर्वपाद तु यावतान्तरें दर्शनम्"

जब प्रतिवादी के समक्ष वादी के द्वारा घटना के सम्बन्ध में जो बात बतायी जाती है उसके आधार पर प्राड विवाक यह विचार करता है कि क्यों पुनः इस अभियोग को आगे बढ़ाया जा सकता है। स्मृतियों में कुछ ऐसी अवस्थाओं का उल्लेख किया गया है जिससे अभियोग को आगे बढ़ाना असम्भव होता है जैसे—

अप्रसिद्धं निराबाधं निरर्थकं निष्प्रयोजनम्।
असाध्यं वा विरुद्धं वा पक्षाभासं विवर्जयेत्।'

इस तरह 'नारद ने यह बतलाया है कि गुरू, शिष्य, पिता पुत्र, पति पत्नी स्वामी एवं भृत्यु के अभियोग को यहीं समाप्त कर दिया जाता है। किन्तु यही अभियोग इन परिस्थितियों में नहीं आता है तो आगे बढ़ाया जाता है और तब प्रतिवादी से उत्तर की उपेक्षा की जाती है।

उत्तर पक्ष—बृहस्पति स्मृति में बताया गया है कि पूर्व पक्ष के बाद जो दूसरा पक्ष आता है उसे उत्तर पक्ष कहा गया है।

"पूर्व पक्षः स्मृतः पादों द्वितीय स्तूत्तरस्थता"।

इस समय प्रतिवादी के समक्ष धर्म स्थान में उपस्थित होकर उसके सम्पूर्ण प्रश्नों का उत्तर देता है। प्रतिवादी का उत्तर इतना व्यापक होना चाहिये कि अभियोग का कोई पक्ष अछूता न रहे साथ ही साथ उत्तर इतना क्रम्बद्ध होना चाहिये कि अभियोग के बाहर की कोई बात उसमें सम्मिलित न हो। उत्तर में कोई भी संदेहात्मक वाद नहीं होती चाहिये। इसके साथ ही साथ उत्तर को तुल्य कोटिक भी होना चाहिए।

नारद ने इस प्रकार के उत्तर को चार भागों में विभाजित किया है—

(i) मिथ्या (Denial)

(ii) समप्रतिपत्ति (Acceptance)

(iii) प्रत्यवस्कन्द (Shecialplea)

(iv) प्राग्न्याय (Former Judgement)

"प्राङ्न्याद विधिसाध्यं उत्तरं स्याच्चुर्विधम्"

मिथ्या—का तात्पर्य अभियोग को अस्वीकार करने से हैं। स्मृतियों में इसे भी चार प्रकार का बतलाया गया है जैसे प्रतिवादी यह कह सकता है कि उत्तर एक दम असत्य है, या मैं इस बारे में कुछ भी नहीं जानता, या जिस समय यह अभियोग चालू हुआ उस समय मै अनुपस्थित था। या इस अभियोग के समय मेरा जन्म ही नहीं हुआ था।

सम्प्रति-पत्ति—का तात्पर्य अभियोग को स्वीकार करने से है। जब प्रतिवादा चुप रहे, या अभियोग को प्रत्यक्ष रूप से स्वीकार कर ले। तो यह मान लिया जाता है कि अभियोग सत्य है।

प्रत्यवस्कन्द—का तात्पर्य अभियोग को विशिष्ट तर्कों के साथ स्वीकार करने से है जैसे यदि अभियोग यह हो कि प्रतिवादी ने कुछ धन लिया है तो वह यह कह सकता है कि यह धन मैने अवश्य लिया था किन्तु इसे लौटा दिया है या वह यह भी कह सकता है कि इस धन को वादी ने भिक्षुओं को दान देने के लिए कहा था। इस लिए इस धन को मैंने भिक्षुओं को दान कर दिया है अतः मेरे ऊपर गलत अभियोग चलाया जा रहा है और मैं इससे दोष मुक्त हूँ।

प्राग्न्याय —यदि अभियुक्त यह कहे कि यह अभियोग पहले ही चल चुका है और वह कृत्रिम साक्ष्य या लिखित प्रमाण से यह साबित करे कि वास्तव मे वह अभियोग पहले चल चुका है और इसकी विजयश्री मुझे प्राप्त हुई है तो इस प्रकार के उत्तर को प्राग्न्याय कहा गया है।

कभी-२ जब उत्तर इन चारो ही प्रकारों से सम्मिलित होता है तो इसे संकर उत्तर कहा गया है। जैसे यदि अभियोग यह रहे कि प्रतिवादी ने 100) लिया है,

५ तोले सोना लिया हैं, कुछ भूमि लिया है और वह धन के अपहरण का भी अभियुक्त है। तो इन चारो ही प्रकारों के अभियोगों का उत्तर इस प्रकार दे। जैसे १००) लेने की बात एक दम असत्य है। ५ तोला सोना हमने अवश्य किया था किन्तु यह दान देने के लिये दिया गया था और हमने दान कर दिया। कुछ भूमि लेने का अभियोग एक दम असत्य है तथा जो धन अपहरण का अभियोग है वह पहले ही चल चुका है और इसका निर्णय मेरे पक्ष में हुआ था। इस प्रकार के उत्तर को शंकर कहा जाता है।

इन उत्तरों के पश्चात धर्माध्यक्ष या सभ्य यह विचार करते है कि अभियोग क्या यही समाप्त कर दिया जा सकता है ? या इसे और भी आगे बढ़ाया जा सकता है। कभी-२ उत्तर के आधार पर ही अभियोग को समाप्त कर दिया जाता है और वहीं निर्णय दे दिया जाता है। नारद ने इस प्रकार की ५ परिस्थितियों का उल्लेख किया है—

(i) अन्यवादी—यदि उत्तर इस प्रकार हो कि अभियोग से बिलकुल असम्बद्ध हो तो उस समय अभियोग वही पर समाप्त कर दिया जाता है।

(ii) क्रिया द्वेष—यदि उत्तर उस प्रकार हो कि क्रिया वाद उस पर संचालित ही न किया जा सके तो भी अभियोग वही पर समाप्त कर दिया जाता है।

(iii) नापेस्तथा—उत्तर देने के बावजूद भी यदि अभियुक्त धर्म स्थान में उपस्थित नहीं होता है तो उस समय भी निर्णय दे दिया जाता है।

(iv) निरुत्तर—यदि अभियुक्त उत्तरहीन दे तो उस समय अभियोग का निर्णय वही दे दिया जाता है।

(v) आहूत प्रपलायी—यदि अभियुक्त बुलाने पर भाग जाय तो निर्णय दे दिया जाता हैं।

'अन्यवादी क्रिया द्वेषी नोपस्थता निरुत्तर: ।
आहूय प्रपलायी च ही नर पंचाविध: स्मृत: ।।"

क्रियापाद—यदि अभियोग उत्तर के अनुसार समाप्त होने योग्य नहीं है तो उस पर साक्ष्य आदि के द्वारा अभियोग को आगे बढ़ाया जाता है यदि प्रतिवादी का उत्तर सम्प्रतिपत्ति प्रकार का है तो न्यायाध्यक्ष वही तुरन्त निर्णय दे देता हैं।

किन्तु यदि उत्तर प्रत्यवस्कन्द, मिथ्या या प्राग्न्याय प्रकार का है तो विभिन्न साक्ष्यो से इसे प्रमाणित करने की आवश्यकता होती है यदि उत्तर मिथ्या प्रकार का है तो उसे प्रमाणित करने के लिए उत्तरदायित्व वादी पर पड़ता है। किन्तु यदि

उत्तर प्रत्यसूत्र या प्रान्याय प्रकार का है तो इसे प्रमाणित करने का उत्तर दायित्व प्रतिवादी पर पड़ता है। इन्हे प्रमोणित करने के लिए जिन साक्ष्यों की आवश्यकता पड़ती है उन्हे दो भागों में बिभाजित किया जाता है।

(i) मानुष साक्ष्य।

(ii) दिव्य साक्ष्य।

पुर्नविचार—मनु के अनुसार यदि सभ्य प्राड्विवाक असत्य ने अनुचित निर्णय किया है तो वह विषय राजा स्वयं देखकर उक्त अधिकारियों को दण्ड देता है। यदि असत्य साक्षियों पर निर्णय किया गया है तो वहां सर्वथा अमान्य हो जायेगा और पुनः नये 'सी' से विवाद प्रारम्भ होगा। मनु याज्ञवल्क्य नारद, कात्यायन के अनुसार राजा स्वयं कारण विशेष से पुर्नविचार कर सकता है।

अपील—कात्यायन के अनुसार छोटी अदालतों द्वारा किये हुए निर्णय से सन्तोष न हो तो उसकी अपील राजा के यहाँ हो सकती है और राजा उसपर विचार कर उचित पक्ष की स्थापना कर सकता है। याज्ञवल्क्य के अनुसार सभाओं में अपील की व्यवस्था यथाक्रम से है—कुल से श्रेणी पुनः पूग और उसके बाद प्राड्विवाक की अदालत और अन्त में राजा की सभा।

अध्याय १६

साक्ष्य

मुख्यतः साक्ष्य दो श्रेणी में बतलाये गये हैं।

(अ) मानव साक्ष्य

(ब) दैवी साक्ष्य

मानव साक्ष्य—इस साक्ष्य को सबसे अधिक प्रामाणिक माना गया है। मानुष साक्ष्य को चार भागों में विभक्त किया गया है—

(i) अनुमान

(ii) साक्षी

(iii) लिखित

(iv) अव्याहत भुक्ति।

उपर्युक्त चारों साक्ष्यों का सापेक्षिक महत्व है। बृहस्पति के विचार में सबसे निम्न कोटि का साक्ष्य अनुमान है उससे अधिक महत्वपूर्ण साक्षी है। लिखित साक्ष्य साक्षी से भी सबल है एवं अव्याहत भुक्ति सर्वाधिक महत्वपूर्ण है—

अनुमानद गुरुः साक्षी लिखितः गुरुः।

अव्याहता त्रिपुरुषी भुक्तिरेभ्यो गरीयसी।"

बृहस्पति में विभिन्न प्रकार के अभियोगों में विभिन्न प्रकार के साक्ष्य महत्वपूर्ण होते है। अचल सम्पत्ति के आदान-प्रदान या क्रय-विक्रय के अभियोग में मरिचि के अनुसार लिखित साक्ष्य ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण समझा जायेगा। मार-पीट के अभियोग में अनुमान और साक्षी सबसे महत्वके बतलाए गये हैं। अव्याहत, त्रिपुरुषी भुक्ति धन सम्बन्धी अभिलेखों में महत्व रखता है।

अनुमान—अनुमान का शाब्दिक अर्थ किसी वस्तु को देखकर दूसरे का अनुमान लगाना है। अभियोग के सन्दर्भ में यदि कुछ अंश प्रमाणित हो जाय तो शेष भाग को अनुमान से प्रमाणित किया जा सकता है, जैसे—

उल्काहस्तु अग्निदाहः

अर्थात यदि कहीं आग लगी हो और कोई व्यक्ति मशाल लिए उधर दिखलाई दे तो उस व्यक्ति को आग लगाने वाला मान लिया जायेगा।

साक्षी—पाणिन के अनुसार जो व्यक्ति घटना को स्वयं देखा हो या विवाद ग्रस्त विषय से पूर्ण परिचित हो वही साक्षी कहला सकता है नारद के अनुसार जो व्यक्ति विवाद ग्रस्त विषय को सुना हो या देखा हो या अनुभव किया हो वही साक्षी हो सकता है। इस प्रकार साक्षी वास्तव में वही हो सकता है जिसने स्वयं अपनी आँखों से घटना को देखा हो ।

स्मृतकारों के अनुसार यदि साक्षी मर गया हो या विदेश चला गया हो तो अभिप्राय उस विवाद को सुनने वाला व्यक्ति भी साक्षी के रूप में आ सकता है। पुनः यदि साक्षी किसी कारणवश धर्मस्थान आने में असमर्थ रहे तो नयी विधि तीनों वेदों के ज्ञाता के सामने लिखा साक्ष्य भी प्रस्तुत कर सकता है।

साक्षीसंख्या—याज्ञवल्क्य तथा गौतम के अनुसार साक्षी संख्या कम से कम तीन होनी चाहिए। अकेला साक्षी सम्भवतः मान्य नहीं था। परन्तु यदि वह साक्षी श्रोतिक ब्राह्मण हो या तपस्वी हो तो उसका साक्ष्य अवश्य स्वीकार करना चाहिए।

साक्षी योग्यता :—साक्षी की सामान्य योग्यता यह थी कि वह प्रतिष्ठित परिवार में उत्पन्न उसी जनपद का नागरिक हो। पुत्रवान, सम्पत्ति वाला उत्तम आचरण वाला, लोक तथा मोह से दूर रहने वाला हो। मनु आदि ने साक्षियों के योग्यताओं की लम्बी सूची दी है। नारद के अनुसार यदि साक्षी उपलब्ध नहीं हो रहे हों तो स्त्री, नाबालिग, वृद्ध, शिष्य, सम्बन्धी के दास आदि भी हो सकते हैं।

अयोग्यताएं—नारद द्वारा अयोग्य साक्षियों के ५ वर्ग बतलाये गये हैं—

(i) ब्राह्मण, वृद्ध, तपस्वी आदि। किन्तु उन्हें साक्षी न होने का कारण नहीं दिया गया है।

(ii) चोर, डाकू, जुआड़ी आदि।

(iii) भेद-वक्ता परस्पर विरोधी वचन बोलने वाला।

(iv) मृत साक्षी के गुण तो हैं परन्तु मृत है।

साक्षी परिक्षा—साक्षी जब सभी दोषों से मुक्त हो तभी उसे धर्म स्थान में उपस्थित किया जाय और उस समय भी उसका परिक्षण किया जाता है। इस समय भी यदि साक्षी में कोई दोष पाया गया तो उसे साक्षी होने से वंचित किया जा सकता है। यह दोष दो प्रकार के हो सकते हैं—

(i) गूढ़ दोष (ii) व्यक्त दोष।

व्यक्त दोष सभी लोगों को ज्ञात होता है और उसे प्रमाणित करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। परन्तु यदि दोष गूढ़ हो और साक्षी उसे स्वीकार भी नहीं करता है तो दोष देखने वाले व्यक्ति को यह प्रमाणित करना होता है कि साक्षी दोष युक्त है।

इस प्रकार वादी प्रतिवादी दोनों पक्षों द्वारा स्वीकृत किया गया साक्षी ही वास्तविक साक्ष्य देने का अधिकारी होता है। प्राचीन भारतीय मनीषियों के अनुसार साक्षी बयान प्रारम्भ होने के पूर्व सत्य भाषण के लिये सपथ लेता है। जूता एवं उष्णीय उतार दाहिना हाथ उठा स्वर्ण एवं कुश का स्पर्श कर शपथ लेता—जो कुछ वह कहेगा सच-सच कहेगा।' साक्षी के भावपरीक्षण पर जोर दिया जाता था। गौतम ब्राह्मण के लिये सपथ नहीं मानते हैं।

लिखित साक्ष्य—स्मृतियों के अनुसार लिखित साक्ष्य तीन प्रकार का बतलाया गया है।

(i) सह-साक्षिक (ii) राज साक्षिक (iii) असाक्षिक।

'सह-साक्षिक' का तात्पर्य ऐसे व्यक्तिगत लेख पत्रों से है जो किसी साक्षी द्वारा प्रमाणित हो परन्तु राजकीय मोहर से रहित हो। 'राजसाक्षिक' का अभिप्राय ऐसे साक्षिक से है जो धर्माध्यक्ष द्वारा प्रमाणित हो तथा जो शासक के किसी अधिकारी द्वारा चिह्नित हो। 'अ-साक्षिक का तात्पर्य ऐसे साक्ष्य से है जो किसी भी अन्य व्यक्ति के सम्मुख न लिखकर स्वयं वादी या प्रतिवादी द्वारा लिखा गया है।

राजकीय लेख शुद्ध एवं स्पष्ट भाषा में होना चाहिये। कात्यायन ने लिखित साक्ष्य की तुलना दर्पण से की है तथा इसके महत्व को दर्शाया है—

'दर्पणस्थं यथा विम्वाति कुर्वन्ति दृश्यते।
तथा लेख्यस्थ विम्बानि कुर्वन्ति कुशलाजनाः॥'

अव्याहत त्रिपुरुषी मुक्ति—जब लिखित साक्ष्य द्वारा की यदि अर्थयोग की प्रमाणिकता सिद्ध न हो सके तो अव्याहत मुक्ति को प्रमाण के रूप में स्वीकार करना चाहिये। यदि किसी धन पर निरन्तर तीन पीढ़ी तक बिना किसी व्यवधान में अधिकार बना रहे तो उसे स्वाभाविक स्वामित्व या अव्याहत त्रिपुरुषी मुक्ति कहते हैं। मुक्ति दो प्रकार की होती है—

(i) सागम—ऐसा साम्पत्तिक अधिकार जो वैधानिक हो।

(ii) अनागम—ऐसा साम्पत्तिक अधिकार जिसकी प्रामाणिकता वैधानिक न हो।

नारद तथा वृहस्पति का विचार है कि किसी भी सम्पत्ति को उपर्युक्त किसी भी श्रोत से प्राप्त किया जाय तथा उसके साथ अधिकार भी हो तो स्वत्व माना जा सकता है किन्तु आगम रहित मुक्ति के आधार पर स्वत्व नहीं माना जा सकता। वैधानिकता से रहित सम्पत्ति का उपभोगी व्यक्ति चोर कहा जाता है तथा राज्य द्वारा ऐसे व्यक्ति को दण्ड देने का विधान है।

दैवी साक्ष्य—दैवी साक्ष्य से तात्पर्य है जहाँ मनुष्य प्रमाण विवाद के निर्णय में असमर्थ हो और अन्य साक्ष्यों का आश्रय लिया जाय तो दिव्य हो। अर्थशास्त्र में दिव्य प्रमाणों की व्यवस्था नहीं है। उसका तात्पर्य यह नहीं है कि उस समय उनका अभाव हो गया हो। ह्वेनसांग और फाह्यान के यात्रा संस्करणों में दिव्य प्रमाणों के प्रयोग का उल्लेख मिलता है। दिव्य साक्षी सभी के सामने होती थी और उसमें प्रयुक्त होने वाले प्रतीकों (जल, अग्नि, विष) के लिये समय का बन्धन लगाया जाय। यहाँ क्रिया प्रातः रविवार को होती थी।

●

अध्याय : १७

पुत्रों के प्रकार

प्राचीन भारतीय विधि के अनुसार पुत्रों को दो प्रकार का बतलाया गया है—

(i) औरस पुत्र (ii) गोण पुत्र

औरस पुत्र—औरस पुत्र का तात्पर्य विवाहित पति एवं पत्नी के उत्पन्न पुत्र से है। प्राचीन काल में औरस पुत्र का विशेष महत्व था। यह दामाद और बान्धव दोनों होते हैं। ज्येष्ठ पुत्र का प्राचीन काल में इतना अधिक महत्व था कि विभाजन के समय उसे अतिरिक्त धन से तृप्त किया जाता था। आपस्तम्ब धर्म सूत्र में यह बताया गया है कि धन से ही ज्येष्ठ पुत्र जो सन्तुष्ट करके ही धन का विभाजन करना चाहिए।

'एक धनेन ज्येष्ठ तोषयित्वा।

इसके अतिरिक्त अन्य जितने प्रकार के पुत्र होते हैं वे गोड़ पुत्र होते हैं। उन्हें स्मृतिकारों ने कामस पुत्र कहा है क्योंकि इन पुत्रों की प्राप्ति के पीछे धर्म की भावना नहीं निहीत रहती वरन् काम भावना ही इसमें प्रधान होती है।

गोड़ पुत्र—गोड़ पुत्रों को स्मृतिकारों ने ११ या १२ प्रकार का बतलाया है जिनमें से कुछ बान्धव और दामाद दोनों है और कुछ मात्र बान्धव ही है। जहाँ तक उत्तराधिकार में साम्पत्तिक अधिकार का प्रश्न है यह भी इन गोड़ पुत्रों के सम्बन्ध में एक विवादास्पद प्रश्न है। इनके नाम सामान्य रूप से इस प्रकार है।

(i) क्षेत्रज (ii) पुत्रिकापुत्र या दोहित्र पुत्र (iii) दत्तक पुत्र (iv) कानीन (v) कृत्रिम (vi) अपविन्दु (vii) गूढ़ज (viii) सहोढ (ix) क्रीत (x) स्वयंदत्त (xi) शौद्र (xii) पौन भंव।

क्षेत्रज–जब पति करीब रहे अथवा पति न भी रहे तो किसी निसक्त पुरुष द्वारा उत्पन्न पुत्र को क्षेत्रज पुत्र कहा गया है। सर हेनरी मैन ने लिखा है कि भारतीयों को पुत्र प्राप्ति की इतनी उत्कृष्ट इच्छा होती है कि अमर्यादित धार्मिक आचरण या धार्मिक मान्यता प्रदान की है। इस तरह के नियोग पुत्र की कल्पना पाश्चात्य देशों में की गयी है। बाइबिल में एक स्थान पर बताया गया है कि विधवा पत्नी को सर्व-

प्रथम अपने देवर के पास जाना चाहिए और यदि वह उसे पत्नी के रूप में स्वीकार न करें तो उस विधवा को चाहिए कि वह उसके मुख पर थूक कर बाहर चली जाय। प्राचीन भारत में इस प्रकार की प्रथा प्रचलित थी या नहीं, इसके स्पष्ट उदाहरण नहीं मिलते किन्तु ऋग्वेद में कुछ मन्त्रों से इसका संकेत अवश्य ही प्राप्त होता है। एक ऋषि अश्वनी कुमार की प्रार्थना करते हुए कहता है कि हमारे यज्ञ में आने से तुम्हें उसी प्रकार कौन रोक रहा है जिस प्रकार विधवा पत्नी अपने काल में अपने देवर को रोकती है। इस मन्त्र में यद्यपि नियोग प्रथा का पूर्ण रूप नहीं देखा जा सकता किन्तु उसका एक प्रारूप तो इसे कहा ही जा सकता है। इसी प्रकार से ऋग्वेद के दूसरे मन्त्र में यह उल्लेख हैं कि जब व्यक्ति का शव कब्र में पड़ा हुआ है, उसके साथ धनुष बाण आदि सभी वस्तुए रखी हुई है और साथ में उसकी पत्नी भी है तो उस पत्नी से उसका छोटा भाई यह कहता है कि—

'उत्तिष्ठ नारी एधि जीव लोके।'

अर्थात जिसके साथ तुम सोयी हुयी हो उसके प्राण चले गए हैं अतः आज से मेरा और तुम्हारा दाम्पत्य जीवन प्रारम्भ होगा। ठीक इसी तरह की बात वशिष्ठ धर्म सूत्र में भी कही गयी है—

'नारी तु पत्यभावे वें देवरं वृणते पतिम्'।

किन्तु दूसरी एवं चतुर्थ शताब्दी ई० पू० के बाद ही यह स्थिति परिवर्तित हो जाती है और मनु ने यहाँ तक लिखा है कि विद्वानों एवं द्विजो के लिए पशु धर्म कहकर निन्दित किया गया।

'अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः।

इस तरह आठवीं शताब्दी के एक लेखक असहाय ने भी नियोग प्रथा की कटु आलोचना की है। और उन्होंने बताया है कि धर्मशास्त्रों द्वारा अनुमोदित होने के बाद भी कलयुग में लोकाचार के लिए यह वर्जित है—

धर्मशास्त्रोक्तमपि लोकाचारे परित्यक्तः।

प्राचीन काल में स्मृति कारों ने इसे औरस पुत्र में पश्चात इसे द्वितीय स्थान दिया है। गौतम और बौधायन स्मृतिकारों ने इसे दायाद और बान्धव दोनों मान कर औरस पुत्र के अभाव में सर्वप्रथम उत्तराधिकारी घोषित किया। परन्तु बाद के स्मृतिकारों ने इसे पुत्रिका पुत्र के पश्चात तृतीय स्थान दिया गया है।

२—पुत्रिका पुत्र या दौहित्र पुत्र—जब पुत्री के पुत्र को अपने पुत्र के रूप में स्वीकार किया जाता है तो उसे पुत्रिका पुत्र या दौहित्र पुत्र कहते हैं। सामान्यतः

जब पुत्र विहिन पिता अपनी कन्या का विवाह करता है, तब इस समय यह एक शर्त होती है कि उस कन्या का जो प्रथम पुत्र होगा, वह सदैव अपने नाना के पास रहेगा। यदि इस तरह किसी शर्त का उल्लेख न हो तो भी भ्रातृहीना कन्याओं के साथ विवाह करने समय इसे एक शर्त मान लेना जाहिए। मनु स्मृति में इस शर्त के बारे में स्पष्ट रूप से लिखा गया है कि एक भ्रातृहीना अलंकृत कन्या को इस शर्त के साथ दे रहा हूँ कि इसका जो प्रथम पुत्र होगा वह मेरा स्वाभाविक पुत्र माना जायेगा।

'अभ्रातृका प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यागलं कृताम्।'
भवदेस्या तु यत्सुतं तसत्तस्याम स्वधाकाम्॥

मनु ने तो यहाँ तक लिखा है कि पौत्र एवं दौहित्र में कोई विशेष अन्तर नहीं है। क्योंकि पौत्र का पिता एवं दौहित्र की माता दोनों एक ही पिता की सन्तान होती है—

'पौत्र दौहित्र पोतोंके विशेषोऽस्ति धर्मतः।
सयेहि माता पितरौ प्रभवतः तस्य देहतः॥'

पुत्रका पुत्र का प्राचीनतम उल्लेख वैदिक साहित्य से भी प्राप्त होता है और इससे अनेक भयंकर दुष्परिणाम भी निकले। ऋग्वेद के एक मन्त्र में यह बताया गया है कि अभ्रातृ मात्री कन्यायें पुनः अपने पिता के पास जिस प्रकार चली जाती है, उसी तरह उषा एक युवती के रूप में मुस्कराती हुयी अपने सौन्दर्य का प्रदर्शन करती है। इसकी व्याख्या करते हुए निरुक्तकार ने यह लिखा है कि इस तरह का उल्लेख यह प्रमाणित करता है कि इस तरह की कन्यायें विवाहित होने के पश्चात पुनः अपने पिता के घर चली जाती है। यास्क ने तो यहाँ तक लिखा है कि पुत्री को भी पिता पुत्र के रूप में स्वीकार कर लेता था जिसको पुत्रिका शब्द से सम्बोधित किया गया है। इसी मत का समर्थन करते हुए यास्क ने यह भी लिखा है कि उस कन्या के साथ कभी भी विवाह नहीं करना चाहिए जिसके साथ कोई भाई न हो। याज्ञवल्क्य स्मृति में भी इसी तरह का उल्लेख प्राप्त हुआ है। अर्थात इस शर्त के अनुसार प्राचीनतम काल में ऐसी अधिकांश कन्यायें अविवाहित जीवन व्यतीत किया करती थीं जिनके पास कोई भाई नहीं रहता था। गौतम के अतिरिक्त प्रायः सभी स्मृतिकारों ने क्षेत्रज के बाद इसे द्वितीय स्थान प्रदान किया है। और इसके प्रयोजनों के विषय में भी विचार प्रकट किया है। पुत्रिका पुत्र का जो सबसे महत्वपूर्ण प्रयोजन होता है वह पिण्ड एवं श्राद्ध आदि का तर्पण या दान विशेष रूप से उल्लिखित है। मातृ पक्ष के लोगों का आध्यात्मिक एवं लौकिक सुख प्रदान करने के लिए दौहित्र पुत्र को पुत्र के रूप में स्वीकार किया जाता है। गौतम ने इसे दसवाँ स्थान दिया है।

परवर्ती व्याख्या कारों ने गौतम के इस कथन को अच्छी तरह सुलझाने का प्रयास किया है और इनकी व्याख्याओं के अनुसार गौतम का यहाँ पुत्रिका पुत्र से तात्पर्य उन पुत्रों से है जो असवर्ण विवाह से उत्पन्न होते हैं। पुत्रिका पुत्र सामान्यतः दो तरह के होते हैं।

(i) केवली (ii) द्वामुण्यायण।

केवली का तात्पर्य ऐसे पुत्रिका पुत्र से है जो मात्र अपने नाना की ही सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनता था। इस तरह जो पुत्रिका पुत्र होता है वह अपने स्वाभाविक पिता की सम्पत्ति के अधिकार से वंचित रहता है। द्वामुण्यायण का तात्पर्य ऐसे दौहित्र पुत्र से है जो अपने माता पिता का इकलौता पुत्र होता है। इस तरह के पुत्र अपने नाना तथा वास्तविक पिता दोनों के सम्पत्ति के अधिकारी होते हैं। यदि वी० यस० पाठक के मत पर विश्वास किया जाय तो समुद्र गुप्त को द्वामुण्यायण पुत्र स्वीकार किया जा सकता है।

(iii) दत्तक पुत्र —जब स्वाभाविक पिता को पितृत्व से हटाकर दूसरे व्यक्ति में पितृत्व की स्थापना की जाती है तो उसे दत्तक पुत्र कहा जाता है। वैदिक साहित्य में दत्तक पुत्र का कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में दत्तक पुत्र को अत्यन्त हीन दृष्टि से देखा गया है और यह बताया गया है कि जो जन्म जात हैं वह मुझे कभी भी आध्यात्मिक सुख नहीं प्रदान कर सकती। किन्तु इसके वाद ब्राह्मण साहित्य से दत्तक पुत्र के प्रति वास्तविक उदाहरण नहीं मिलते तो उनके संकेत अवश्य ही प्राप्त होते हैं। तैतीरीय संहिता में अत्र ऋषि ने अपने इकलौते पुत्र को औवे ऋषि के हाथों दान किया था। इसी तरह से एतरेय ब्राह्मण में शुनः शेष को विश्वामित्र ने दत्तक पुत्र के रूप में स्वीकार किया था। इन्हें वास्तविक दत्तक तो नहीं कहा जा सकता किन्तु दत्तक पुत्र का संकेत अवश्य ही प्राप्त होता है। स्मृतियों में दत्तक पुत्र का नाम तो अवश्य ही प्राप्त होता है लेकिन उनके विषय में कोई विशेष विवरण नहीं मिलता। वशिष्ठ धर्मसूत्र और मनुस्मृति में दत्तक पुत्र के कुछ नियम अवश्य ही निर्धारित किये गये हैं। वशिष्ठ धर्म सूत्र में यह बताया गया है कि अकेले पुत्रको न तो दत्तक लिया जा सकता है और नहीं दिया जा सकता है इसी तरह वशिष्ट धर्म सुत्र में भी यह बताया गया है कि पति की आज्ञा के बिना न तो स्त्री दत्तक लें सकती है और न तो दत्तक दे सकती है। इस कथन की व्याख्या विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न रूपों में की गयी है। मिथिला में यह बताया गया है कि स्त्री को दत्तक पुत्र लेने या ग्रहण करने का कोई अधिकार नहीं है। बंगाल बनारस और मद्रास में इसकी दूसरी व्याख्याये की गयी है। इसके अनुसार पति की आज्ञा के अनुसार पत्नी दत्तक पुत्र ग्रहण भी कर सकती है। यदि पति का देहावसान हो गया हो और

उसने अपनी जीवितावस्था में इस प्रकार का कोई आदेश न दिया हो तो उस समय पत्नी न तो दत्तक ले सकती है और न तो प्रदान कर सकती है। इस व्याख्या के अनुसार पत्नी विधवा होने के पश्चात ही दत्तक पुत्र ले सकती है यदि पहले से ही पति का निषेध न किया गया हो। इसकी एक दूसरी भी व्याख्या महाराष्ट्र में की गयी है जिसका उल्लेख व्यवहार मयूख में हुआ है कि पति भी मृत्यु के पश्चात पत्नी पति की आज्ञा के बिना भी दत्तक पुत्र ले सकती है। यहा पर भर्तुः शब्द का तात्पर्य वास्तविक पति ही नहीं वरन् पति की मृत्यु के पश्चात उसके जितने संरक्षक हो सकते हैं, उनके लिए प्रयुक्त हुआ है यदि पत्नी दत्तक पुत्र लेती है तो वह किसी अपने सुख के लिए नहीं वरन् पति की आध्यात्मिक एवं पारलौकिक सुख के लिए ग्रहण करती है। इसीलिये यदि पति का आदेश न भी हो तो स्त्री को दत्तक पुत्र ले लेना चाहिए और यदि श्वसुर जीवित है तो उसे उसकी आज्ञा ले लेनी चाहिए और वह भी जीवित न हो तो जो पति का निकटतम सम्बन्धी हो उसी के आदेशानुसार दत्तक पुत्र ग्रहण करना चाहिए। दत्तक पुत्र के सम्बन्ध में पति को विशेष अधिकार दिया गया है और यहाँ तक बताया गया है कि यदि वह विधुर हो या उसकी पत्नी गर्भिणी हो तो उस परिस्थिति में भी यदि वह चाहे तो दत्तक पुत्र ले सकता है। इसीलिए वशिष्ट वर्ग सूत्र में दत्तक पुत्र ग्रहण करने के बाद भी पुत्रोत्पत्ति की बात कही गई है। सामान्य रूप से दत्तक केवल पुत्र को ही लिया जा सकता है। किन्तु पुत्रियों को दत्तक पुत्र के रूप में स्वीकार करने की बात कही गयी है। दत्तक के सम्बन्ध में स्मृतिकारों ने उत्तराधिकारों में स्थान के लिए दो मत व्यक्त किया है— कुछ स्मृतिकार इसे मात्र बाधक ही कहते हैं और सायान्यतया गौड़ पुत्रों में इसे तीसरा स्थान देते हैं। दत्तक पुत्र ग्रहण करने का जो महत्वपूर्ण प्रयोजन होता है वह पिण्ड एवं श्राद्ध आदि का समुचित सम्पादन ही माना जाता है।

(द) कानीन पुत्र—बौधायन के अनुसार जब असंस्कृता कन्या के साथ कोई व्यक्ति यौन सम्बन्ध स्थापित करे और पुत्रोत्पत्ति हो तो उस पुत्र को कानीन पुत्र कहा जाता है। कानीन शब्द का प्राचीनतम् उल्लेख अथर्ववेद में प्राप्त होता है। वाजसनेही संहिता में कानीन पुत्र को कुमारी पुत्र कहा गया है। व्यास एवं कर्ण को सामान्य तया कानीन पुत्र के रूप में ही प्रस्तुत किया जाता है वशिष्ठ, नारद और मनु आदि स्मृतिकार कानीन पुत्र को सातवाँ या आठवाँ स्थान देते हैं। वे इसे बान्धव तो मानते हैं किन्तु दायाद नहीं मानते हैं। याज्ञवल्क्य जैसे स्मृतिकार ने कनीन पुत्र के महत्व को और बढ़ा दिया है। उन्होंने इसे पाचवा स्थान देकर बान्धव तथा दायाद दोनों ही रूपों में स्वीकार किया है। एक तरफ जब क्षेत्रज पुत्र का महत्व कम हो रहा था, अधिकांश स्मृतियाँ क्षेत्रज पुत्र को एवं निन्दा की हेय दृष्टि से देखती है तो

तो क्या कारण है कि इस तरह के अनैतिक आचरण से उत्पन्न कानीन पुत्र को याज्ञवल्क्य ने इतना महत्व दिया है। काणे महोदय का मह अनुमान है कि नारद एवं मनु के समय नागरिक सभ्यता का पूर्णतः विकास नहीं हो पाया था। किन्तु याज्ञवल्क्य के समय जब नागरिक सभ्यता विकसित होने लगी तो कानीन पुत्र को भी पुत्रिका पुत्र के बाद महत्व दिया जाने लगा। कानीन पुत्र का जन्म कन्या के पिता के घर पर ही होता है और उस समय वह अविवाहित होती है। इस लिए इस पुत्र पर किसका अधिकार हो यह भी एक विवाद ग्रस्त प्रश्न है। गौतम वशिष्ट और बौद्धायन कानीन पुत्र पर कन्या के पिता का पूरा अधिकार मानते हैं बौधायन ने तो यहाँ तक लिखा है कि कानीन पुत्रको यद्यपि पुत्रिका पुत्र जैसा महत्व नहीं दियt जा सकता फिर भी वह अपने नाना की सम्पत्ति का पूर्ण अधिकारी है। इसके विपरीत मनु आदि स्मृतिकारों ने यह मत व्यक्त किया है कि कानीन पुत्र पर भावी पति का भी पूर्ण अधिकार होना चाहिए क्यों कि वह सम्बन्ध अनैतिक होता है और पूर्व निर्धारित होता है। सांसारिक वातावरण के इस सम्बन्ध को उद्घाटित करने के लिए विवाह संस्कार की आवश्यकता पड़ती है इसीलिए कानीन पुत्र पर भावी पति का ही पूर्ण अधिकार होना चाहिए और उसे उसकी सम्पत्ति में भी पूर्ण अधिकार मिलना चाहिए।

(5) सहोढ़—जब गर्भवती कन्या का विवाह हो और पुत्र का जन्म पति के घर आने पर हो तो इस तरह के पुत्र को सहोढ़ पुत्र कहा गया है सहोढ़ पुत्र पर कन्या के पिता का कोई अधिकार नहीं होता है बल्कि वह अपने भावी पिता की सम्पत्ति का अधिकारी हो सकता हैं किन्तु इसे पुत्रों में सबसे निम्न प्रकार का पुत्र कहा गया है।

(6) गूढ़ज—जब कन्या अपने पति के साथ निवास कर रही हो लेकिन इसके बाद भी जो पुत्र उत्पन्न हो वह किसी अन्य व्यक्ति हो तो ईस रहस्यमय पुत्र को गुढ़ज पुत्र कहा गया है। गूढ़ज पुत्र अपने पिता की सम्पत्ति में पूर्ण अधिकार प्राप्त करता है।

(7) कृत्रिम पुत्र—यह वह पुत्र है जिसे धोखे से पुत्रवत पालन-पोषण करके पुत्र के रूप में स्वीकार कर लिया जाय भले ही वह पुत्र अपने को उस दम्पति का पुत्र मानने के लिए तैयार न हो। यह पुत्र उनकी सम्पत्तिमें अधिकार भी प्राप्त कर सकता है।

(8) अपविद्ध पुत्र—जब अपने वास्तविक माता पिता द्वारा परित्यक्त किसी शिशु का पालन-पोषण पुत्र मानकर ही दूसरा व्यक्ति करे और उसे अपना वास्तविक पुत्र मानकर सम्पत्ति देने के लिए तैयार भी हो तो ईस तरह के पुत्र को अपविद्ध पुत्र कहा गया है।

(9) क्रीतपुत्र—जब किसी के माता पिता को पूर्ण धन देकर पुत्र को खरीद

लिया जाता है और उसे अपने पुत्र के रूप में स्थान दिया जाता है तो इस तरह के पुत्र को क्रीत पुत्र कहा गया है।

(10) शौद्र पुत्र—जब किसी शूद्रा से कोई पुत्र उत्पन्न होवे तो उस पुत्र को शौद्र पुत्र कहा गया है इस पुत्र को बलि या पिण्ड देने का कोई अधिकार नहीं है।

(11) स्वयंदत्त पुत्र—जब कोई पुत्र अपनी चालाकी से किसी दूसरे का पुत्र घोषित करें और उसकी सम्पत्ति में भी अधिकार की घोषणा करें तो इस तरह के पुत्र को स्वयंदत्त पुत्र कहा गया है।

(12) योनर्भाव पुत्र—जब विधवा स्त्री से कोई पुत्र उत्पन्न हो तो उसे यौनर्भव कहा गया है।

इन सभी गौण पुत्रों को स्मृतिकारों ने पुत्र प्रतिनिधि कहा है और इनका सबसे महत्वपूर्ण प्रयोजन पिण्ड दान बताया है।

"क्षेत्रजा तीनसुतानेताने कादश यथो चितान।
पुत्र प्रतिनिधीनाहुः क्रियालोपान्मनी द्विजा।।"



अध्याय : १८

पाप, अपराध एवं दुष्कृति

(Crimes Criminal and Torts)

प्राचीन साहित्य में अपराध, दुष्कृति तथा पाप इन तीन शब्दों का प्रयोग सामाजिक नियमों के अतिक्रमण के सम्बन्ध में होता है। पाप का तात्पर्य ऐसे धार्मिक नियमों के अतिक्रमण से होता है जिसका दण्ड परलोक में प्राप्त होता है। स्मृतियों में पाप के लिये प्रायश्चित का विधान किया गया है. स्पष्ट है कि प्राचीन युग में पाप को भी वैधानिक महत्व प्राप्त था। अपराध का अर्थ ऐसे आदर्शों के उलंघन से है जिनसे सम्पूर्ण समाज की क्षति होती है इसीलिये इसे सामाजिक अपराध कहा गया है। अपराध के क्षेत्र में शासन स्वयं अपराधी को दण्डित करने के लिये उद्यत रहता है। जबकि दुष्कृत में बिना क्षतिग्रस्त व्यक्ति के निवेदन किये राज्य अथवा शासक अपराधी को दण्डित नहीं कर सकता है।

प्राचीन भारत में अपराध एवं दुष्कृत के अस्तित्व के विषय में निश्चित जानकारी प्राप्त नहीं है यह विचार मेन महोदय का है। लेकिन कात्यायन स्मृति के अध्ययन से ऐसा पता चलता है कि प्राचीन भारत में अपराध एवं दुष्कृत दोनों का अस्तित्व था किन्तु उनका पृथक् स्वरूप निर्धारित करना असम्भव था। कात्यायन, नारद तथा बृहस्पति नें ६ प्रकार के अपराधों का उल्लेख किया है—

(i) वाक्यारुण्य (ii) दण्ड पारुण्य (iii) स्त्री संग्रहण (iv) स्तेय (v) साहस तथा (vi) प्रकीर्णक।

(i) वाक्यारुण्य—जब वाणी द्वारा दूसरे को अपमानित किया गया हो। स्मृतिकारों ने वाक्यारुण्य के लिये अर्थ एवं शारीरिक दोनों ही दण्डों का विधान किया है।

(ii) दण्ड पारुण्य—जब किसी व्यक्ति को शारीरिक चोट पहुँचायी जाये। इसके लिए आर्थिक दण्ड की व्यवस्था की गयी है।

(iii) स्तेय—मनु गौतम तथा याज्ञवल्क्य इत्यादि ने विभिन्न वर्गों के लिए स्तेय या चोरी से सम्बन्धित एक ही अभियोग के लिए भिन्न-२ प्रकार के दण्ड की व्यवस्था की है। चोरी की हुयी वस्तु का आठ गुना शूद्र को देना पड़ता था चार गुना द्विज को देना पड़ता था।

(iv) स्त्री संग्रहण—यदि कोई शूद्र किसी द्विज कन्या के साथ संग्रहण करता है तो उसे मृत्यु दण्ड देने की व्यवस्था की गयी है। याज्ञवल्क्य के अनुसार यदि कोई भी व्यक्ति किसी भी कन्या के साथ बलात्कार करे तो उसे मृत्यु दण्ड देना चाहिए। अथवा विशिष्ट अंगों का विच्छेदन कर देना चाहिए।

(v) साहस—कोई भी अपराध यदि हिंसात्मक है तो उसे साहसिक अपराध कहा गया है। साहसिक अपराधों में प्रायः सभी स्मृतियों ने पुरातन परम्परा का समर्थन किया है। जैसे हत्या करने पर हत्या करना, हाथ काटने पर हाथ काट देना।

(vi) प्रकीर्णक—उपर्युक्त अपराधों के अतिरिक्त अन्य अपराधों को प्रकीर्णक कहा गया है। तथा स्मृतियों में इनके लिए परिस्थिति का अध्ययन कर दण्ड देने की व्यवस्था की गयी है।

दण्ड—प्राचीन भारत में दण्ड सामान्यतः सुधारवादी प्रवृत्ति के लिए दिया जाता था। दण्ड के सम्बन्ध में महाभारत में कहा गया है कि कुछ व्यक्ति राजदण्ड तथा कुछ व्यक्ति परस्पर दण्ड एवं कुछ पारलौकिक दण्ड के भय से अपराध नहीं करते हैं। दण्ड से दूसरे अपराधियों को उपदेश दिया जाता था। जिससे सामाजिक शक्ति सुरक्षा स्थापित रह सके। मुख्य रूप से दण्ड का आधार भय था जिसका मुख्य उद्देश्य सामाजिक शक्ति एवं सुरक्षा थी।

●



अध्याय १९

न्यायालयों का संगठन

प्राचीन भारत में न्यायिक एवं सामाजिक संस्थाओं से न्यायालयों का विकास होता है। न्याय के साथ नीति एवं विधान का संचालन इन्ही संस्थाओं द्वारा होता है उदाहरण के लिए वैदिक युगीन सभा केवल न्यायालय का कार्य नहीं करती थी वरन् यह सामाजिक एवं राजनीतिक संस्था के रूप में भी थी। "राजशक्ति विकास के साथ राज सभा के उदय होने पर उसमें इन संस्थाओं का प्रभाव था। फलतः राज्य सभा राजा की इच्छा पर न्याय करने वाली संस्था न हो सकी"।

प्रस्तुत सन्दर्भ में वैदिक युग से लेकर परवर्ती काल तक न्यायालयों का सर्वेक्षण प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

वैदिक युग—इस काल में न्याय कार्य सभा के अधीन था। सभा को किलविष स्पृत कहा गया है किल विषस्पृत का अर्थ अपराधों के लिये दण्ड देना है। परवर्ती काल में सभा शब्द का प्रयोग न्यायालय के अर्थ में लिया गया[2]।

परवर्ती काल—वैदिक युग के बाद राज्य का विस्तार बहुत बढ़ गया। राज्य की समस्यायें बढ़ गयी इसमें साथ ही साथ न्याय विभाग की व्यवस्था भी बढ़ गयी। अब राजा शक्तिशाली हो गया था स्थानीय संगठनों की सुरक्षा भी उसके अधिकार क्षेत्र में आ गये न्यायालयों का रूप उभड़कर सामने आने लगा तथा कौटिल्य के युग तक आते-आते न्यायालयों का सर्वांगीण विकास हो गया। कौटिल्य ने अपने धर्मशास्त्र में न्याय दान पद्धति की विस्तृत विवेचना की है। कौटिल्य के अनुसार न्यायालय दो प्रकार के थे—

(i) धर्मस्थीय (ii) कंतक शोधन

धर्मस्थीय में विवाह स्त्री धन, दायभाग, ऋण, दासकल्प, साहस, स्त्री संग्रहण, वाक पारुष्य दण्ड पारुष्य, तथा धूतसमाह्वयं का वर्णन किया गया है। कौटिल्य के अर्थ शास्त्र के अनुसार जनपद सन्धि, संग्रहण द्रोण मुख और स्थानीय में चार न्यायालय

१. हरिहरनाथ त्रिपाठी, प्राचीन भारत में राज्य और न्याय पालिका पृ० १५५
२. सभा के स्वरूप तथा महत्व के बारे में अध्याय प्रतिनिधि संस्थाएं देखिए

निम्न न्यायालयों से लेकर केन्द्र तक थे। प्रत्येक न्यायालय में तीन धर्मस्थ और तीन न्यायाधीश नियुक्त किये जाते थे। संग्रहण में दस गाँव द्रोण मुख में ४०० गाँव तथा स्थानीय ८०० गाँवों का न्यायालय था।

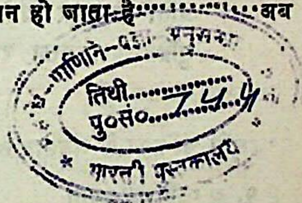
धर्मस्थास्त्रयस्त्रयोऽमात्या जनपदसन्धि संग्रहण द्रोण मुखस्थानीयेषु व्यावहारिकानर्थान्कुर्युः।

अर्थशास्त्र, ३.१.१.

ग्राम सभाओं के माध्यम से भी निर्णय होता था। इनमें न्यायाधीशों की नियुक्ति राज्य नहीं करता था। अर्थशास्त्र में बताया गया है कि गाँव के किसान गोपालक; वृद्ध तथा अन्य बाहर के अनुभवी पुरुष निर्णय करते थे।

कण्टक शोधन न्यायालय में शिल्पी, व्यापारी, दैवी विपत्ति, और चोरों से प्रजा की रक्षा, आशुमृतक परीक्षा, शुद्ध एवं चित्र दण्ड की विवेचना की जाती थी। 'भारतीय न्यायपालिका में कौटिल्य का यह प्रथम सफल प्रयोग था जिससे उन्होंने अपने युग की समस्या का व्यावहारिक समाधान किया।[1] के० बी० आर आयंगर ने कण्टक शोधन का अनुवाद पुलिस न्यायालय किया है। आर० के० मुकर्जी ने भी इसे पुलिस न्यायालय कहा है। महाकाव्यों में सभा का उल्लेख मिलता है। यह सभा न्याय के साथ नीति निर्देशन का कार्य करती रही।[2]

धर्म सूत्रों के बाद सभा का स्वरूप जिस प्रकार विकसित होता है उसमें राजा प्रधान न्यायाधीश और न्यायिक प्रशासन का भी प्रधान हो जाता है..................अब केन्द्रीय न्यायालय राज सभा के रूप में हो गया।'[3]



बृहस्पति के मतानुसार सभा के दस अंग थे—

(१) राजा (दंड देने वाला)
(२) प्राड्विवाक (प्रधान न्यायाधीश)
(३) सभ्य (कार्य की परीक्षाकर प्राड्विवाक की रक्षा करने वाला)
(४) स्मृति (जिससे विधि निर्णय होता)
(५-६) स्वर्णतथा अग्नि (शपथ के लिए)
(७) जल (प्यास एवं भूख शान्त करने के लिए)
(८) गणक (द्रव्य की गणना करने के लिए)
(९) लेखक (कार्यवाही लिखने वाला)
(१०) पुरुष या साध्यपाल (सभा, अभियुक्त एवं साक्षियों को प्रस्तुत करने वाला

---

१. हरिहरनाथ त्रिपाठी, प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका, पृ० १७०
२. उपर्युक्त पृ० १७४
३. बृहस्पति और याज्ञवल्क्य ने गण के स्थान पर पूर्ण शब्द का उल्लेख किया है।

वास्तव में राजसभा एक केन्द्रीय न्यायालय थी इसका अध्यक्ष या तो राजा होता था अथवा राजा द्वारा नियुक्त प्राड्विवाक होता था। कालान्तर में यह पद स्थायी हुआ। स्पष्टत: राजा न्यायाधीश और कुछ धार्मिक सभ्यों के साथ न्यायालय का संचालन होता था। सबसे महत्वपूर्ण यह है कि राजा या प्राड्विवाक अकेले न्याय नहीं कर सकते थे। राजसभा प्रान्तीय एवं स्थानीय न्यायालयो के कार्यों को भी देखती थी। इन न्यायालयों का प्रधान न्यायाधीश केन्द्र से ही नियुक्त होता था (बृहस्पति १·३०)

अन्य न्यायालय

बृहस्पति ने अन्य न्यायालयों की चार श्रेणियाँ बताई हैं।

(१) प्रतिष्ठिता
(२) अप्रतिष्ठिता
(३) मुद्रिता
(४) शासिता

गाँव तथा पुर के न्यायालय प्रतिष्ठिता कहलाते थे। चला (दौरा अदालत) को अप्रतिष्ठिता कहते थे। मुद्रिता के अंतर्गत राजमुद्रा और अध्यक्ष थे तथा राजा से युक्त शासिता था—

प्रतिष्ठिताऽप्रतिष्ठिता मुद्रिता शासिता तथा
प्रतिष्ठिता पुरे ग्रामे चलानामप्रतिष्ठिता।
मुद्रिताध्यक्षसंयुक्ता राजयुक्ता च शासिता॥

(बृहस्पति, १.१.३.)

स्मृति चन्द्रिका के अनुसार न्यायालय दो प्रकार के थे—

१. श्रेष्ठनिर्णय-स्थान
२. जघन्य-निर्णय-स्थान

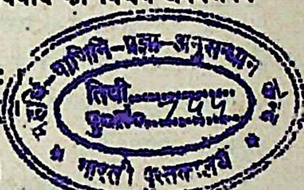
राजा श्रेष्ठ निर्णय स्थान में स्वयं रहता था या राजा की अनुपस्थिति में प्राड्विवाक अध्यक्षता करता था। इसमें राजा के साथ प्राड्विवाक, सभ्य, सभासद् गणक लेखक और पुरुष भी रहते थे। स्मृति चन्द्रिका में भृगु के मत को उद्धत किया गया है। इसके अनुसार जघन्य न्यायालय दस थे—अरण्य, सार्थिक, सैनिक, कुलिक, ग्राम, पुर, गण, श्रेणी चातुर्विद्य या वर्गी। स्मृचन्द्रिका के अनुसार इसमें पाँच जातीय न्यायालय थे।

आरण्यास्तु स्वकैः कुर्युः सार्थिकास्सार्थकैस्तथा।
सैनिकास्सैनिकैरेव ग्रामेऽप्युभयवासिभिः॥

उभयानुयतं चैव गृह्णते स्थानमीप्सितम् ।
कुलिकास्सार्थमुख्याश्च पुर ग्रामनिवासिनः ॥
ग्रामपौरगण श्रेण्यश्चातुर्विधश्च वर्गिणः ।
कुलानि कुलिकाश्चैव.........॥

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने स्थानीय न्यायालयों की महत्ता; प्रदर्शित किया है। बृहस्पति के अनुसार व्यापारी; कृषक कलाकार, सूदखोर व्यापारी संघ, वतंक, उपासना के विभिन्न सम्प्रदायों के सदस्य तथा तस्कर अपने विवाद का निर्णय अपने अपने नियम के अनुसार करते हैं।

कीनाशाः कारुकाः शिल्पि कुसी दिश्रेणिनतंकाः ।
लिंगिनस्तस्कराः कुर्युः स्वेन धर्मेण निर्णयम् ॥
तपस्विनां तु कार्याणि त्रैविधैरेव कारयेत ।
मायायोग विनां चैव व स्वयं कोयकारणात ॥



(बृहस्पति, १. २५-२७)

पी. एन. सेन ने इन स्थानीय न्यायालयों की अधिकृत शक्ति को स्वीकार किया है। कृष्णा स्वामी आयगंर, आलतेकर, नीलकण्ठ शास्त्री आदि विद्वानों ने स्थानीय न्यायालयों पर अपने विचार व्यक्त किये हैं।

स्थानीय न्यायालयों का वर्गीकरण

कुल श्रेणी गण[२] मुख्य स्थानीय न्यायालय थे।

नारद का मत है कि इनमें गण सभा सबसे ऊंची थी।

कुलानि श्रेणयश्चैव गणश्चाधिकृतो नृपः ।
प्रतिष्ठा व्यवहाराणां गुर्वेम्यस्तूत्तरोत्तरम् ॥ (नारद स्मृति १. ७)

पी० वी० काणे के अनुसार आधुनिक पंचायतों के समान इनका स्वरूप था। दीक्षितार, जायसवाल तथा मुकर्जी ने भी इन शब्दों की विवेचना की है। कुल्लूक; मेधातिथि, अपरार्क आदि टीकाकारों ने 'कुलानि' का अभिप्राय 'सम्बन्धियों का समूह, मध्यस्थ पुरुष, पितृ परम्परा या कौटुम्बिक सम्बन्ध से बंधे व्यक्तियों की सभा कर्षक' से लिया है। पी० वी० काणे का विचार है कि 'कुलानि' का अर्थ उस कर्मचारी से है जो आठ या दस ग्राम समुदाय की सभा की अध्यक्षता करता और वृत्ति के रूप में एक कुल के अनुपात से भूमि लेता। अभिलेखों में भी स्थानीय संस्थाओं का उल्लेख हुआ है। गुप्त युगीन दामोदरपुर ताम्रपत्र लेख में बताया गया है कि 'विषयपति नगर श्रेष्ठी, प्रथम कुलिक और प्रथम कायस्थ की सहायता ले।'[२] (एपीग्राफिया इण्डिका, भाग १५, १३०)। कुमार गुप्त प्रथम के शासन काल में 'ग्राम-कुलाधिकरणम्' का उल्लेख हुआ है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के वर्ष ९३ के सांची अभिलेख में 'पंच मण्डली' का उल्लेख है। यह पंचायत थी।

श्रेणी शब्द का तात्पर्य है 'समानपेशा या कार्य करनेवालों का संघ चाहे वे विभिन्न जातियों के सदस्य हो।' परन्तु शिल्पियों तथा व्यापारियों के संघ को भी श्रेणी कहा गया है। व्यवहार प्रकाश के अनुसार गण और पूग एक ही हैं। याज्ञवल्क्य का कथन है पूग, श्रेणी और कुल में कुल पहली सभा है और पूग सबसे उच्च हैं। इस पर सुबोधिनी ने टीका की है कि 'व्यवहार करने में समर्थ होने से नृप ही सबसे बलवान है और न्यायालय अपने सामर्थ्य के अनुसार दुर्बल और बली हैं।' हरिहर नाथ त्रिपाठी के अनुसार 'यहाँ सामर्थ्य शब्द से स्पष्ट है कि राजा न्यायिक प्रशासन में सर्वोच्च है। वरदाचार्य के अनुसार सामर्थ्य का अर्थ स्पष्ट नहीं है। वे उस काल तक इन न्यायालयों से राजा के सम्बन्ध होने में ही सन्देह करते हैं। बृहस्पति का विचार है कि कुलादि से सभ्य, सभ्यों से अध्यक्ष और अध्यक्षों से राजा अधिक अधिकार रखता है।

कुलादिभ्योऽधिकाः सभ्यास्तेभ्योऽध्यक्षोऽधिकः कृतः।
सर्वेषामधिको राजा धर्मं यत्नेन निश्चितम्॥

इन स्थानीय न्यायालयों पर टिप्पणी करते हुए कहा गया है कि कुल आदि न्यायालयों से असन्तुष्ट होने पर राजसभा में प्रार्थना कर संतोष पाना चाहिए क्योंकि वही अन्तिम न्यायालय है।' धर्मकोश में कहा गया है कि छोटी सभा से राजसभा में सीधे विवाद न जाकर क्रम से ही जा सकता है। जब विवाद स्थानीय न्यायालयों में समाप्त नहीं होता था तो अन्तिम रूप से केन्द्रिय न्यायालय में विवाद सुलझाया जाता था।

न्यायालयों के संगठन और विकास को देखते हुए हमें स्पष्ट होता है कि केन्द्रीय न्यायालय अन्त तक राज सभा के रूप में था। इसका प्रमुख अध्यक्ष राजा था परन्तु वह अकेले कार्य नहीं कर सकता था। प्राड्विवाक तथा सभ्यों की भी सहमति ली जाती थी। स्थानीय न्यायालयों को भी स्वतंत्रता थी। परन्तु परवर्ती युगों में उनका संगठन केन्द्रीय निर्देशन में होने लगा। न्यायिक संगठन में राजा नियुक्तियाँ तो करता था, परन्तु नियुक्त लोगों की योग्यता वह निर्धारित नहीं कर सकता था। धर्म सूत्रों में व्यवहार तथा अपराध विधि स्वतंत्र हो गयी। स्मृतियों में भेद स्पष्ट हो जाता है :

द्विपदो व्यवहारः स्याद्धनहिंसासमुद्भवः।
द्विसप्तकोऽर्थमूलस्तु हिंसामूलश्चतुर्विधः॥

(स्मृति चंद्रिका)

इस प्रकार स्मृतियों ने दीवानी (अर्थवाद) और फौजदारी (हिंसावाद) को अलग किया, परन्तु इनके लिए स्वतंत्र न्यायालयों की व्यवस्था नहीं की।

●



